॥ लक्ष्मीवेङ्कटेश्वराय नमः ॥

गोरक्षपद्धति।

राजधानी-टीहरी जिला-गढवालनिवासि-
पं०-महीधरशर्मकृतभाषानुवादसहिता।

इसीको

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासने
स्वकीय "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापेखानेमें
छापकर प्रकाशित किया।

संवत् १९८१, शके १८४६.

कल्याण-मुंबई.

प्रस्तावना ।

समस्त साधनाओंका मूल योग है, तप, जप, संन्यास, उपनिषत्, ज्ञान आदि मोक्षहेतु अनेक हैं किंच सर्वोत्कृष्ट योगही है इसीके प्रभावसे शिव सर्वसामर्थ्य, ब्रह्मा कर्त्ता, विष्णु पालक हैं. इसके मुख्यकर्ता शिवजीने पार्वतीजीसे कहा ब्रह्माजीके सेवन करनेपर योगी याज्ञवल्क्य-स्मृति बनी है, विष्णु (श्रीकृष्णजी) ने गीता, एवं भागवतके ग्यारहवें स्कंधमें कहा है इसके मुख्य आचार्य आदिनाथ (शिवजी) हैं. इन्हींसे नाथसंप्रदाय प्रवृत्त भया. एक समय आदिनाथ किसी द्वीपमें पार्वतीको योग सुना रहे थे वह एक मछलीने सुनकरही दिव्यज्ञान तथा दिव्यदेह पाया यही मत्स्येंद्रनाथ भये और मत्स्येंद्रनाथ शाबर-नाथ (जिन्होंने साबरग्रन्थ देशभाषामें बनाये हैं) आनंदभैरवनाथ, चौरंगी आदियोंमे योग पाय यथेच्छ विचरते थे कि, एक स्थानमें हाथ पांव कटे हुए चोरको देखा. उक्त महात्माओंके कृपावलोकनसे उसके हाथ पांव उग आये तथा ज्ञानभी हो गया. मत्स्येंद्रनाथके कृपासे योग पायकर चौरंगिया नाम योगी सिद्ध विख्यात भया और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मंथानभैरव, सिद्धवृद्ध, कंथडी, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्या-नंद, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक तारानाथ इत्यादि योगसिद्धि पायकर योगाचार्य हुए हैं योगहीके प्रभावसे महा-सिद्ध अखंडऐश्वर्यवान् होकर मृत्युको जीत ब्रह्मानंदमें मग्न रह ब्रह्मां-डमें विचरते हैं. इनमेंसे मुख्य मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ योगविद्याके आचार्य भये, गोरक्षनाथने मुमुक्षुजनोंके उपकारार्थ राजयोग, हठयोग आदि बहुविस्तार एवं बहुसाधनासाध्य जानकर, यह " गोरक्षपद्धति" नामक ग्रंथ २०० श्लोकमें सर्वसमुच्चय सारभूत प्रकट किया. सर्वसाधा-रणके सुबोधार्थ महीधर शर्मा राजधानी टीहरी जिला गढवालनिवासीने इसका भाषानुवाद करके प्रकाशित किया.

इस ग्रंथके प्रथम मंगलाचरणसे (५) श्लोकमें विषयप्रयोजन संबन्ध अधिकारी कहे हैं, (१) में योगाभ्यासका फल, (१) में षडंगके नाम, (५) में आसन, (१२) में षट्चक्रनिरूपण, (८) में दशनाडी

स्थानोंसहित, (१४) में दशवायु, (१०) में शक्तिचालन, (२६) में महामुद्राआदि, (७) में प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रशंसा, (४) में प्राणायामका प्रकार, (८) में नाडीशोधन, इतने विषय पूर्वशतकमें तथा (२१) में प्राणायामका विस्तार, (३०) में प्रत्याहारविधि, (९) में धारणा, (२४) में ध्यान, (१३) में समाधि, (४) में मुक्तिसोपान, योगशास्त्राभ्यासका फल इतने विषय उत्तर शतकमें कहे हैं. ऐसी यह गोरक्षपद्धति योगमार्ग जाननेवालोंको अतिउत्तम तथा सुगम है. योगमार्गका प्रयोजन सभी शास्त्रोंमें पडता है, विशेषतः संध्या, पूजन आदि द्विजन्माओंके नित्यकर्मभी विना इसके सिद्ध नहीं होते जैसे संध्यामें प्रथम " बद्धपद्मासनो मौनी प्राणयामत्रयं चरेत् । " तथा पूजनमें " स्नातः शुचिः प्राङ्मुखोपविश्य प्राणानायम्य " इत्यादि सर्वत्र विधिवचन हैं. यदि योग न जाने तो प्राणायाम पद्मासन आदि कहांसे जाने. इनके न जाननेसे समस्त संध्यावंदनादि साधन निरर्थक हैं. इस समयमें बहुधा लोग नाकपर हाथ लगानेका प्राणायाम समझते हैं. पद्मासनादियोंका तो नामभी नहीं है तब कहांसे सिद्धि होवे इसी हेतु नास्तिकलोग असिद्ध तथा पोप (ठग) आदि निंद्यशब्दोंसे अपने मुखविवरोंको दूषित करते हैं. यदि योगाभ्यास करें तो सिद्धि प्रत्यक्ष होकर अपना उद्धार हो तथा दूषकोंका उन विवरोंमें मिट्टी पडे और योगग्रन्थ बहुत तथा कठिन हैं ये २ शतक थोडेहीमें ज्ञान देते हैं इस हेतु मैंने भाषाटीका की है कि सभी सज्जन इसे देख थोडाही गुरूपदिष्ट होकर सर्वार्थसाधन योगमार्गकी महिमा जान जायँगे. पाठकोंके सुबोधार्थ मैंने अनेक प्रसिद्ध योगग्रन्थोंसे इसे बढाकर गोरक्षपद्धति कर दिया और यह ग्रन्थ " लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापेखानेके अधिकारी गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीको सर्व हक्कसहित दे दिया है जो यह उन्होंने आपके छापेखानेमें छापकर प्रसिद्ध किया है.

सही—

पंडित–महीधरशर्मा.

जिला–गढवाल, राजधानी–टीहरी.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ

भाषानुवादसहिता

गोरक्षपद्धति ।

श्रीआदिनाथं स्वगुरुं हरिं मुनिम्
गोरक्षशास्त्रस्य प्रणम्य योगिनम् ।
भाषाविवृत्तिं कुरुते महीधरो
योगे सुबोधः खलु जायते यथा ॥ १ ॥

श्री आदिनाथ (शिवजी) तथा निजगुरु, हरिमुनि योगीको प्रणाम करके महीधर नामा गोरक्षयोगशास्त्र जो योगींद्र गोरक्षनाथने दो शतकम शिष्योपकारार्थ बनाया है, उसकी भाषाटीका करता है जिससे योगमार्गमें सभीको सुगमतासे बोध होता है. योगपदका अर्थ मल है. जैसे 'ह' का अर्थ सूर्य 'ठ' का चंद्रमा है इनके योग (मल) को हठ योग कहते हैं इसीको राजयोगभी कहते हैं. प्राण अपानवायु जिनकी सूर्य चन्द्रमा संज्ञा है, इनका ऐक्य करनेवाला जो प्राणायाम उसे हठयोग कहते हैं ॥ १ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ २ ॥

शिष्यको आत्माके तत्त्वबोधनिमित्त गुरुस्वरूप धारण कर परमगुरु श्रीपरमात्माको सहस्रदल कमलमें भावनापूर्वक प्रथम ग्रन्थारंभमें विघ्नविघातार्थ प्रणाम करते हैं, कि जीवब्रह्मकी ऐक्यता योगशास्त्रका प्रयोजन है सद्गुरुके समीप भक्तिपूर्वक रहनेसे शिष्यका पांचभौतिक शरीरभी आनंदमय हो जाता है. आनंदही परब्रह्मका रूप है. जैसे श्रुतिभी कहती है कि "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" यदि ऐसा न हो तो उसकी पहँचानभी नहीं हो सके क्यों कि "न रूपमस्येह तथोपलभ्येत

नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा । " इत्यादि गीता । एवं वेदांत ग्रन्थोंमें लिखा है कि उसका रूप तथा जन्म, मरण, मध्य और रंग चिह्न मूर्ति आदि कुछ नहीं है केवल आनन्दमय स्वयं प्रकाशमान है. तथा निर्विकल्प आनन्दमय हो जानेकोही मुक्ति कहते हैं. ऐसे परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको (जिसका शरीरभी आनंदही है) वंदना करके ग्रन्थारंभ करते हैं. जिसमें सांनिध्य (सम्मुख) होनेसे, अर्थात (केवलानुभवानंद) वह आनंदात्मा परमात्मा केवल मनके मनन अनुभव विचार करनेमें अपनेही बीच पाया जाता है, न कि इतस्ततः तीर्थ यात्रादि फिरनेसे, यह अनुभव केवल योगहीमें साध्य है. यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है. नाडीशोधन, वायुशोधन, ध्यान, धारणा आदि विना एवं गुरुकृपा विना नहीं मिलता विना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती. श्रुतिभी कहती है कि " ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः " मुक्तिपदार्थ वही आनंदमय हो जाता है. योगमें ज्ञान पायके जीवपरमात्माका एक भाव होनेमें वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म साक्षात्कार होता है. इस ज्ञानगम्यके प्रत्यक्षमात्र होनेहीसे परमचिदानन्दमय आपही योगी हो जाता है. जैसे ज्ञानकी सात भूमिका हैं ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात हैं विवेक वैराग्य है प्रथम जिसमें ऐसी तीव्र मुमुक्षारूप पहिली, श्रवणमननरूप दूसरी, मनमें अनेक अर्थ संकल्प विकल्प उत्पन्न तथा नाश होते हैं, इन सभीको छोडके सत् एकार्थमें वृत्ति होनी तनुमानसा तीसरी, ये तीन साधनभूमियें हैं इनसे जब अंतःकरण शुद्ध हो तब " अहं ब्रह्मास्मि " मैं ब्रह्म हूं ऐसा योगी कहता है. समस्त साधन पूजनजपादिकमें " अहं ब्रह्मास्मीति चिरं भावयेत् " लिखा है यह भावना विना उक्त तीन भूमिका साधे होतेही नहीं हैं इस लिये विना मार्गके कुछभी साधन नहीं होता है. चौथी सत्त्वापत्ति

ज्ञानभूमि यही फलभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होवे तब ब्रह्मवित् कहाता है. इसी सत्त्वापत्तिभूमिमें समीपही वही जो सिद्धि उसमें आसक्त न होना इसे असंसक्ति नाम पांचवीं ज्ञानभूमि कहते हैं, इसमें जब योगी प्राप्त होवे तो उसे ब्रह्मविद्वर कहते हैं. जिसमें परब्रह्मसे व्यतिरिक्त अर्थको भावना न करे वह पदार्थाभाविनी छठी ज्ञानभूमि है, इसमें जब योगी प्राप्त होता है, तो वह दूसरेके बोधन करने मात्रसे प्रबुद्ध होता है, नहीं तो एकाग्र शून्याकारही रहता है उसे ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं. तुर्यगा नाम सातवीं भूमि है इसमें योगी प्राप्त होनेसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं. इतने साधनाओंसे स्वात्मारास चिदानंद, परमानंद, चिन्मय आदि योगी आपही हो जाता है. कालरहित होना है. "अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारबन्धादिभिर्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च जेगीयते । ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥" जो मीननाथ योगीश्वर मूलाधारबंध उड्डीयान बंध जालंधरबंध आदि योगाभ्याससे हृदयकमलमें निश्चलदीपककी ज्योतिसरीखी परमात्माकी कला साक्षात्कार करके श्वास, पल, घटी, प्रहर, दिन, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वन्तर कल्प आदि निरंतर पुनः पुनः फिरनेवाला है स्वरूप जिसका ऐसे कालको तथा जलादि २५ तत्त्वोंको पहँचानके योगाभ्याससे जीतता है तथा ज्ञानरंगरूपी समुद्र होकर गुप्त प्रकट अर्थात् सगुण निर्गुण होनेकी सामर्थ्य रखनेवाला आदिनाथ शिवस्वरूपकी भावना नित्य करनेके अभ्याससे आपही साक्षात् शिव हो गया है. ऐसे योगीश्वर श्रीमीननाथको दिनरात नमस्काररूप सेवन करता हूं ॥ २ ॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३ ॥

योगी गोरक्षनाथ भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम करके पूर्वजन्मके

योगसेवनसे इस जन्ममें पूर्णयोगमार्गको बोध देनेवाला योगशास्त्र कहते हैं. जिससे योगियोंको अभीष्ट (मनोवांछित) मिलता है तथा परमयोगानन्द यद्वा ब्रह्मानन्द होता है. कर्म और भक्तिसे जब चित्त शुद्ध होवे तब योगशास्त्रमें अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४ ॥

योगिजनोंके हितके लिये योगींद्र गोरक्षनाथ गोरक्षसंहिता नाम योगशास्त्र कहता है, जिसका बोध होनेसे योगीको (परमपद) जीवनमुक्ति होती है यद्वा वह मिलता है जिसमें पहुँचकर पुनरावृत्ति फिर लौट आना नहीं होता ॥ ४ ॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ ५ ॥

जब योगाभ्याससे मन विषयभोगोंसे हट जानेपर परमात्मा (ईश्वर) में आसक्त हो जावे तब योगी काल तथा मृत्युको जीतकर जरा (बुढापा) मृत्यु (मरण) को जीतता है मुक्तिका सोपान (सीढी) यही कर्म है, और कालकी वंचनाभी यही है ॥ ५ ॥

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ ६ ॥

सज्जनको संबोधन करके गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे सत्तम श्रेष्ठ जनो ! वेदरूपी कल्पवृक्षके फल इस योगशास्त्रका सेवन करो जिसके शाखा (टहनियां) योगिरूपी द्विज (पक्षी) अथवा मुनिजनोंसे सेवित हैं और संसारके तीन प्रकारके ताप (क्लेशों) को शमन करता है ॥ ६ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥ ७ ॥

प्रथम आसन सिद्ध करके क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका अभ्यास करना ये योगके छः अंग हैं इनके पृथक विस्तार आगे कहेंगे. यमनियमसंपन्न योगीको क्रमपूर्वक अभ्यास करके समाधिका लाभ होता है जिसमे निर्विकल्प समाधिसे राजयोग सिद्ध होता है. तब चिदानंदस्वरूप आपही होके योगानंदको प्राप्त होना है ॥ ७ ॥

अथासनानि ।

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ८ ॥

आसनोंका विस्तार कहते हैं कि जितने जीवमात्र अर्थात् चौराशी लक्ष योनि हैं उतनेही आसनभी उन्हींके शरीरचेष्टानुसार हैं. इनके प्रत्येक भेदोंके जाननेहारे केवल शिवजी मात्र हैं और कोई नहीं जानता ॥ ८ ॥

चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥ ९ ॥

चौराशी लक्ष आसनोंका भेद मनुष्योंसे न जाने जायँगे इस प्रकार जानकर करुणामय शिवजीने सर्वसाधारणके उपकारहेतु चौरासी (८४) मात्र आसन योगशास्त्रमें प्रगट किये. यही सबमें सार है ॥ ९ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १० ॥

इन ८४ आसनोंमेंभी बहुतविस्तार होनेसे योगधारण करनेवालोंके उपकारहेतु दोही आसन मुख्य कहे हैं इसमें इस ग्रंथमें सुगमताके लिये सर्वसंमत एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन सविस्तार कहा जाता है ॥ १० ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ११ ॥

सर्वोत्कृष्ट दो आसनोंमेंसे प्रथम सिद्धासनकी विधि कहते हैं कि. गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुंडलिनीका) स्थान है इसको वामपादकी एडीसे दृढ पीडन (दबाव) कर दाहिने पैरकी एडी लिंगके ऊपर लगाकर दबावे दोनों पैरोंकी एडियां नीचे ऊपर बराबर हो जाती हैं तथा दोनों पैरोंकी अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिप जाते हैं इनके दबावसे योनिस्थानके तले ऊपरके दो इंद्रिय गुदा उपस्थ रुक जाते हैं. तदनंतर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ठोडी) स्थिर करे और समस्त इंद्रियोंसे हटाकर एकाग्र चित्त करे तथा दोनों नेत्रोंसे अचल दृष्टि कर भ्रुकुटि (भ्रूमध्य) देखता रहे यह मोक्षरूपी द्वार (दरवाजे) के कपाट (किंवाड) को खोलकर मोक्षमार्ग दिखाता है यद्वा जो कुंडलिनीसे रुका हुआ सुषुम्णाद्वार उसे खोलकर मोक्ष-मार्ग (सुषुम्णा) के द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमलकोणकांतर्गत परमात्मासे पहुँचानेका यत्न करता है यह सिद्धासन है ॥ ११ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥ १२ ॥

बांये ऊरु (जानुमूल) में दाहिना पैर उत्तान करके तथा दक्षिण ऊरु (जानुमूल) में वामपाद वैसेंही स्थापन करके दाहिने हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने पैरके अँगूठेको ग्रहण कर तथा बांये हाथको

पीठपीछे घुमायके दाहिने हाथ ऊपरसे ले जायकर बांये पैरके अंगुष्ठको ग्रहण करे, तब चिबुक (ठोडी) को छातीसे लगाय, दोनों नेत्रोंसे नासिकाका अग्रभाग निरंतर देखता रहे. यह योगियोंके समस्त रोगविकार नाश करनेवाला बद्धपद्मासन है ॥ १२ ॥

" प्रकारांतरसेभी पद्मासन कहा है इसलिये मैं ग्रंथांतरमतसे मत्स्येंद्रनाथके मतकोभी लिखता हूं "–

" उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ १ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ २ ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः ॥ ३ ॥ "

ऊरु (जानुमूल) में पूर्वोक्त प्रकारसे चरण (जैसे दक्षिण ऊरुमें वाम, वाममें दक्षिणचरण, उत्तान अर्थात् पैरोंके पीठ जानुपर लगी रहें,) स्थापन करके दोनों हाथ सीधे एडियोंके ऊपर नीचे वाम ऊपर दक्षिण हस्त रखके दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर निश्चल रक्खे तदनंतर राजदंत (डाढ़) के मूल दक्षिण वाम दोनोंमें जिह्वा कर ऊर्ध्वस्तंभन करे (यह जिह्वाबंध गुरुमुखसे जानना चाहिये जिह्वाबंध मूलबंधका विस्तार ५७ । ५८ श्लोकमें कहेंगे) तथा चिबुक (ठोडी) को चार अंगुल अंतर छोडकर छातीसे लगाय मंद मंद वायुको उठावे. यह मूलबंध है, (यहभी गुरुमुखवोध्य है) यह पद्मासन मत्स्येन्द्रनाथके मतका है. संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है; जो संसारमें भाग्यहीन हैं, उनको दुर्लभ है बुद्धिमान् एवं पुण्यवान् पुरुषोंको गुरुकृपासे मिलता है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ षट्चक्रनिरूपणम् ।

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥ १३ ॥

विषयवासनासे मन चंचल रहता है रोकेसे रुकता नहीं विना मन रोके योगसिद्धि नहीं होती, मन रोकनेके लिये कुछ निमित्त (अवलंबन) अवश्य होना चाहिये. इस हेतु छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पांच आकाश ये चार प्रकार भेद (सर्व उनतीस) कहते हैं; कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये छः चक्र हैं इनका विस्तार आगे कहेंगे, आधार सोलह हैं इनके विशेष विस्तार अतिगुह्य होनेसे श्रीगोरक्षनाथने यहां प्रगट नहीं कहे और इनके प्रकटता विना सर्वसाधारणको बोध होना असंभव है इसलिये जैसा गुरुकृपासे जाना, यहां ग्रंथांतरीयमतसे प्रकट करता हूं प्रथम आधार पादांगुष्ठ है, इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होती है १ । दूसरा आधार मूलाधार, इस पावोंकी एडीसे अचेतन करना इससे अग्नि दीप्त होती है २ । तीसरा गुह्याधार, इसके संकोचविकाशके अभ्यास करनेसे अपान वायु फिरके वज्रगर्भनाडीमें प्रवेश कर बिंदुचक्रमें जाता है इससे शुक्रस्तंभन एवं (वज्रोली) रेत योनिमें पातन करके पुनः संकोचनक्रमसे वज्रनाडीद्वारा बिंदुस्थानमें प्राप्त करनेकी सामर्थ्य होती है ३-४ । पंचम उड्डीयान बंध आधार है, पश्चिमतान आसन बांधके गुदाको संकोचन करे इससे मल मूत्र कृमिका नाश होता है ५ । छठा नाभिमंडलाधार, जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे एवं प्रणवके जपसे नाद उत्पन्न होता है ६ । सातवां हृदयाधार, इसमें प्राणवायुका रोध करनेसे हृदयकमल विकसित होता है ७ । आठवां कंठाधार, इसमें ठोडी हृदयपर दृढ लगायके ध्यान करे तो इडा पिंगलामें

बहता हुआ वायु स्थिर होता है ८ । नवम क्षुद्रघंटिकाधार कंठमूल है, इसमें जो दो लिंगाकार ऊपरसे लटकती हैं उनतक जिह्वा पहुँचावे तो ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलसे बहता हुआ अमृतरस मिलता है ९ । दशम जिह्वामूलाधार इसमें खेचरीमुद्राके प्रकारसे जिह्वाग्रसे मथन करे तो खेचरीसिद्धि होती है १० । ग्यारहवां जिह्वाका अधोभागाधार, जिसमें जिह्वाग्रसे मथन करके दिव्यकविताशक्ति होती है ११ । बारहवां ऊर्ध्वदंत मूलाधार, जिसमें जिह्वाग्रस्थापनके अभ्याससे रोगशांति होती है १२ । तेरहवां नासिकाग्राधार, जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे मन स्थिर होता है १३ । चौदहवां नासिकामूलाधार, जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे छः महीनेके निरंतर अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४ । पंद्रहवां भ्रूमध्याधार, जिसमें दृष्टि अचल दृष्टिके अभ्यास करके सूर्यकिरणोंके समान ज्योति प्रकाश होती है इसी अभ्यासके दृढ होनेपर सूर्याकाशमें मनका लय होता है १५ । सोलहवां नेत्राधार, जिनके मूलमें अंगुलीसे मीचतेमें वर्तुलाकार बिंदुसमान इंद्रधनुषके समान रंगकी ज्योति है इस ज्योतिके देखनेका अभ्यास करके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १६ । ये सोलह आधार हैं अथवा मूलाधार १ स्वाधिष्ठान २ मणिपूर ३ अनाहत ४ विशुद्ध ५ आज्ञाचक्र ६ बिंदु ७ अर्द्धेंदु ८ रोधिनी ९ नाद १० नादांत ११ शक्ति १२ व्यापिका १३ शमनी १४ रोधिनी १५ ध्रुवमंडल १६ ये सोलह (१६) आधार हैं. ब्रह्म तथा अपनेमें अभेद समझकर भावना करनेसे सिद्धि होती है. अब दो लक्ष्य कहते हैं ये दो प्रकार बाह्य आभ्यंतरीय हैं देखनेके उपयोगी नासिका तथा भ्रूमध्य इत्यादि बाह्यलक्ष्य हैं, मूलाधारचक्र, हृदयकमल इत्यादि आभ्यंतर लक्ष्य हैं. अथ पांच आकाश इस प्रकार हैं कि प्रथम श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है इसके भीतर रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है इसके भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महाकाश है इसके भीतर नीलवर्ण ज्योतिस्वरूप तत्त्वाकाश है, इसके भीतर विद्युत

(बिजुली) के वर्णका ज्योतिस्वरूप सूर्याकाश है ये पांच आकाश हैं इतने ६ चक्र १६ आधार २ लक्ष्य ५ आकाश शरीरमें हैं इन्हें जो योगी नहीं पहँचानता उसको योगसिद्धि नहीं होती ॥ १३ ॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः १४॥

शरीरस्तंभरूपी गृह है इसमें सकल वासनाओंका आश्रय मन है यही खंभारूप होकर समस्त शरीरको थामे रहता है जिसके मुख १ नेत्र २ नासिका २ कर्ण २ गुह्य १ लिंग १ ये ९ द्वार हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचतत्त्वोंके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव अधिदेवता हैं ऐसे शरीररूपी गृहको जो योगाभ्यासी नहीं जानता वह योगसिद्धि कैसे पा सकता है ॥ १४ ॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥ १५ ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १२ ॥

षट्चक्रोंका पृथक्क् वर्णन है कि प्रथम मूलाधारचक्र गुदद्वारमें पीले वर्णका अधोमुख कमल है, जिसके ४ दलोंमें व, श, ष, स बीज शोभित हैं, आठों दिशामें आठ शूलोंसे वेष्टित पीतवर्ण मध्य-कर्णिकामें चतुष्कोण भूमंडलके भीतर, हाथीके ऊपर आरूढ जिसके पार्श्व (बगल) में (लं) बीज है और चार हाथ चार मुखका ब्रह्मा कोटिसूर्यसमान प्रकाशमान एवं डाकिनीशक्तिसे युक्त है वहा देदीप्यमान त्रिकोणाकार कामारूय पीठ है जिसके मध्यमें पश्चिममुख स्वयंभू लिंग है उसके बीचमें बिजुली समान चमकवाली साढे तीन फेरे (वृत्त) से वेष्टित होकर, सुषुम्णाके द्वारको रोकके सोया हुआ सर्प जैसी कुण्डलिनी महाशक्ति है, जैसे पृथ्वीका आधार शेष तैसेही शरीरका आधार यह है विना इसके जाने और उपाय योगके व्यर्थ

है. इस लिये प्रथम इसका बोधन करना मुख्य है १। दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र लिंगमूलमें रक्तवर्ण ऊर्ध्वमुख षट्दल ब, भ, म, य, र, ल, इन ६ वर्णोंसे शोभित कमल है. शुक्लवर्ण कर्णिकामें अर्द्धचन्द्राकार जलमंडल है इसके बीचमें (वं) बीज है जिसके पार्श्व (बगल) में श्रीवत्सकौस्तुभ पीतांबर वनमालाओंसे शोभित चतुर्भुज विष्णु शाकिनीशक्तिसहित है २। तीसरा मणिपूरचक्र, नाभिमूलमें नीलवर्ण ऊर्ध्वमुख दशदल कमल ड, ढ, ण, त, थ, ध, न, प, फ, इन १० वर्णोंमें शोभित है मध्यकर्णिकामें स्वस्तिकाकार तेजोमण्डल है. इसके मध्यमें सूर्यके समान तेजधारी मेषवाहन (रं) बीज चतुर्भुज है इसके पार्श्वमें रक्तवर्ण विभूतिभूषित, नीलवर्ण, चतुर्भुज लाकिनीशक्तिसहित महारुद्र है ३। चौथा अनाहतचक्र, हृदयमें द्वादशदलकमल ऊर्ध्वमुख क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, इन १२ बीजोंसे शोभित है उसके कर्णिकामें धूम्रवर्ण, षट्कोण वायुमंडलके मध्यमें धूम्रवर्ण, चतुर्बाहु, कृष्णमृगवाहन (यं) बीज है इसके पार्श्वमें अभयमुद्रा धारण करके काकिनीशक्तिसहित ईश्वर है। कर्णिकाके त्रिकोणमें सुवर्णवर्ण बाणलिंग है यह पूर्णागिरि पीठ कहाता है ४। पांचवां विशुद्धचक्र कंठस्थानमें रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख, षोडशदलकमल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, ओ, औ, अं अः इन १६ वर्णोंसे शोभित है स्फटिकवर्णकर्णिकामें वर्तुलाकार आकाशमण्डल जिसमें निष्कलंक पूर्णचन्द्रमा है इसके मध्यमें श्वेत हाथी वाहन, पाश, अभय, वर, अंकुश धारण करता आकाश बीज (हं) इसके पार्श्वमें शाकिनीशक्तिसहित सदाशिव हैं। यह जालंधरपीठ कहाता है ५। छठा आज्ञाचक्र, भ्रूमध्यमें श्वेतवर्ण ऊर्ध्वमुख द्विदल ह, क्ष, इन २ बीजोंसे शोभित कमल है इसके कर्णिकामें हाकिनीशक्तिसहित शिव है. कर्णिकाके त्रिकोणमें, इतर लिंगनामा शिवलिंग है यही मनका स्थान है उड्डीयानभी इसीको

कहते हैं ६ । इसके ऊपर सहस्रदलकमल ब्रह्मरंध्रमें श्वेतवर्ण पूर्णचन्द्र समान मुख परमानंदस्वरूप ह, ळ, क्ष, इन ३ वर्णोंसे शोभित है । त्रिकोणकर्णिकामें पूर्णचन्द्रमण्डल जिसके मध्यमें बिजुलीके समान चमकीला परमानंदरूप देदीप्यमान ज्योति है इसमें चिदानंदस्वरूप परमशिव विराजमान हैं इनके पार्श्वमें सहस्र सूर्यके समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्धचन्द्राकार निर्वाणकला विराजमान है. इसके बीचमें कोटिसूर्यसमान तेजधारी रोम समान सूक्ष्म निर्वाण शक्ति विराजमान है इनके मध्यमें मन तथा वचनसे अगम्य केवल योगसे गम्य चिदानंदस्वरूपसे पर क्या अतिपर परम शिवपद है जिसको परब्रह्मपद कहते हैं विराजमान हैं जिसके निमेषोन्मेष अर्थात् पलक खोलने मीचनेमें सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७ ॥

पहिला मूलाधार स्वाधिष्ठान इन दो चक्रोंके बीचमें योनि स्थान है यही कामरूप पीठ है अर्थात् मूलाधारके कर्णिकामें कामरूप पीठ है ॥ १७ ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता॥१८॥

मूलाधार (गुदा) में जो चतुर्दलकमल विख्यात है उसके मध्यमें त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं पंचाशत् वर्णसे बनी हुई कामाख्या पीठ कहाती है ॥ १८ ॥

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्॥१९॥

पूर्वोक्त त्रिकोणाकारयोनिमें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभू नाम करके जो महालिंग है उसके शिरमें मणिके समान देदीप्यमान बिंब

है यही कुंडलिनी जीवाधार शरीराधर मोक्षद्वार है इसे जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसे योगवित् कहते हैं ॥ १९ ॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

मेढ्र (लिंगस्थान) से नीचे मूलाधारकर्णिकामें रहता, तपे हुए सुवर्णके समान वर्ण, एवं बिजुलीके समान चमकदमकवाला जो त्रिकोण है वही कालाग्निका स्थान है ॥ २० ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते ॥ २१ ॥

इसी त्रिकोणविषय समाधिमें अनंत विश्व (संसार) में व्याप्त होनेहारी परमज्योति प्रकट होती है वही कालाग्निका रूप है जब योगी ध्यान, धारणा, समाधिकरके उक्त ज्योति देखने लगता है तो उसको जन्ममरण नहीं होते अर्थात् अजरामर हो जाता है ॥ २१ ॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२ ॥

स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिंगमूल) है प्राणका अधिष्ठान होनेसे इसेही मेढ्र कहा जाता है ॥२२॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३ ॥

नाभिमें एक कंद है जिससे सर्वांगव्यापिनी सिरा (नसें) निकली हैं जैसे १० नसें ऊपरको हैं जो शब्द, रस, गंध, श्वास, जृंभा, क्षुधा, तृषा, डकार, नेत्रदृष्टि, धारणा (मगजशक्ति) इन दश कर्मोंको अपने २ स्थानोंमें दीपन करती हैं तथा १० नसें नीचेको हैं वात, मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पान, रसको नीचे पहुंचाना इनका काम है और चार जिनकी तिर्छी गति है. दो दाहिने बगल

दो बांये बगल होकर अगणित सूक्ष्मशाखा बनके सर्वांगमें जालेकी नाईं रोमरोम प्रति प्राप्त है उन्हींके मुखोंसे प्रस्वेद देहके बाहर रोमोंमें होके आता है. तथा उन्हींके मार्गोंसे लेप, मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं. इस प्रकारका नाभिकंद जैसे सूत्रमें मणि पिरोया रहता है ऐसेही सुषुम्णानाडीमें पिरोया है इसे नाभिमंडलस्थ मणिपूरचक्र कहते हैं ॥ २३ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥

हृदयमें द्वादशदल अनाहत चक्र है जिसमें तत्त्वातीत (सत्त्वरजस्तमोगुणरहित) जीव है गुणातीत होनेसे पुण्यपापसेभी रहित है परंतु जब तत्त्वकी पहिचान योगाभ्याससे हो जावे तब ये गुण जीवमें आते हैं विना तत्त्वज्ञान जीव संसृतिमें भ्रमणही करता रहता है ॥२४॥

अथ दशनाडीवर्णनम् ।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥२५॥

लिंगमूलसे ऊपर नाभिके कुछ नीचे कंदके सदृश समस्त नाडियोंका मूल (उत्पत्तिस्थान) पक्षीके अंडके समान आकारवाला है इससे बहत्तर (७२) हजार नाडी ऊपर नीचे तिर्छी होकर सर्वांग व्याप्त है ॥ २५ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः॥२६॥

उक्त ७२ हजार नाडियोंमें मुख्य बहत्तरही हैं इनमेंभी प्राणवाहिनी (वायु चलानेहारी) प्रधान दशही नाडी हैं ॥ २६ ॥

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥२७॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये उक्त मुख्य नाडियोंके नाम हैं, यह नाडीमय चक्र योगाभ्यासीको अवश्य जानने योग्य है. तदनंतर इन नाडियोंमें चलनेवाले वायुको जानना नव प्राणायाममे नाडीशोधन होता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

इडा वामे स्थिता भागे पिंगला दक्षिणे स्थिता।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥ ३० ॥

नासिकाके वामभागमें इडा दक्षिणभागमें पिंगला नाडी वहती है इनके मध्यमें सुषुम्णा नाडी रहती है. इन तीनोंकी जड मूलाधारचक्रकी कर्णिकाका त्रिकोण है, जिसके वामकोणसे इडा, दक्षिणकोणसे पिंगला और पश्चिमकोणसे सुषुम्णा नाडी उत्पन्न हुई है ये तीनों नाडी उक्तचक्रको अंकमाल किये है अपने २ ओरके नासिकाछिद्रसे वहती है मध्य सुषुम्णा मूलाधारसे ब्रह्मरंध्रपर्यत है अन्य नाडी उक्तचक्रके कंदसे उत्पन्न होकर प्रत्येक रंध्रमें हैं जैसे वामनेत्रमें गांधारी, दक्षिण नेत्रमे हस्तिजिह्वा, दक्षिणकर्णमें पूषा, वामकर्णमें, यशस्विनी, मुखमें अलंबुषा है ॥ २९ ॥ ३० ॥

कुहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः ॥ ३१ ॥

लिंगदेशमें कुहू, मूलस्थानमें शंखिनी ये दो उस कंदसे अधोमुख होकर नीचेको गई हैं और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरको है इस प्रकार ये दश नाडी प्राणवायुके एक एक मार्गमें आश्रय करके स्थित हैं॥ ३१॥

इडापिंगलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२ ॥

चंद्रमा, सूर्य और अग्नि है देवता जिनके ऐसी इडा, पिंगला सुषुम्णा ये तीन नाडी प्राणवायुके मार्ग हैं ॥ ३२ ॥

अथ दश वायवः ।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥ ३३ ॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनंजय १० ये दश वायु शरीरमें हैं ॥ ३३ ॥

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ॥ ३४ ॥
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥ ३५ ॥

प्राणवायु हृदयमें रहकर श्वास बाहर भीतर निकालता तथा अन्नपानादिकोंका परिपाक करता है १ अपानवायु मूलाधारमें मलमूत्र बाहर निकालनेका काम करता है २ समवायु नाभिमें शरीरको शुष्क अर्थात् यथास्थान रखनेका काम करता है ३ उदानवायु कंठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करता है ४ व्यानवायु सर्वशरीरमें लेना, छोडना आदि अंगधर्म कराता है ५ वायु तो १० हैं परंतु इनमें प्रधान ये पांचही हैं शिवयोगशास्त्रके मतसे मुख, नासिका, हृदय, नाभिमें कुंडलिनीके चारों ओर तथा पादांगुष्ठमें सर्वदा प्राणवायु रहता है १ गुह्य, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, पेडू, कटि, नाभि इनमें अपानवायु रहता है, २ कर्ण, नेत्र, कंठ, नाक, मुख, कपोल, मणिबंधमें व्यानवायु रहताहै, ३ सर्वसंधि तथा हाथ पैरोंमें उदानवायु रहता है, ४ उदराग्निके कलाको लेकर सर्वांगमें समानवायु रहता है, ५ इस कारणसे प्राणादि पांच

वायु प्रधान हैं. नागादि पांच वायुका कर्म जो चर्म एवं हड्डीमें रहकर जो करते हैं आगे कहते हैं ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३६ ॥

उद्गार (डकार) निकालना नागवायुका कर्म है, नेत्रोंके पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका तथा छींक करना कृकरवायुका, जृंभा देवदत्तवायुका कर्म है ॥ ३६ ॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३७ ॥

और धनंजयवायु सर्वशरीरमें व्याप्त रहता है मृतशरीरमेंभी रहता है अर्थात् मरेमेंभी चार घटीपर्यन्त यह शरीरहीमें रहता है इस प्रकार ये दश वायु आपही जीवके अभ्याससे कल्पित होकर सुखदुःखका संबन्ध जीवको कराते हैं मैं सुखी हूं उत मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहारमय जीवकी उपाधि लिंगशरीरमें होनेसे आपही जीवरूप होकर समस्त नाडियोंमें फिरता रहता है. यद्यपि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीवही हैं तो इसका घूमना फिरना असंभव है तथापि जैसे चंद्रमा तो कंपायमान नहीं है परंतु उसका प्रतिबिंब जलमें जिस समय हो उस समय उस जलको हिलाया जाय तो चंद्रबिंब हिलता दीख पडता है ऐसेही व्यवहारमें दश वायुओंका घूमना तथा इनहीकी उपाधि जीवचैतन्यमें आरोपित करते हैं ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८ ॥

जैसे कंदुक (गेंद) हाथसे भूमिपर ताडन करके स्वतः उछलता है, तैसेही प्राणवायुके स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायुके स्थान (गुदा) में प्राणवायुके प्राप्त होनेमें अपानवायु जीवको आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता जैसे गेंद खेलनेवालेके

वशमें गेंद रहता है ऐसेही अविद्या (माया) के वशमें जीव रहता है ॥ ३८ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ ३९ ॥

जीवकारणसे जीवात्मा प्राणअपानवायुके अधीन है उसी कारणसे इडा और पिंगला नाडीके द्वारा शिरके नीचे मूलाधारपर्यंत ऊपर मुख नासिकाछिद्रपर्यंत फिरताही रहता है इसके अतिचंचल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायुके साधन विना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते विना हृदयकमलमें ध्यान नहीं होता ॥ ३९ ॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४० ॥

जैसे बाजपक्षीके पैरमें डोरी बांधके हिलाके छोड देनेपर उड जाता एवं खींचनेपर फिर हाथमें आ जाता है ऐसेही मायाके अंश सत्त्वरजतमोगुणके वासनासे बँधा हुआ जीव बुद्धिकी लीन हुएमें उपाधिरहित शुद्धब्रह्म हो गया हो तौभी प्राणापानवायु करके फिर खींचा जाता है जाग्रत् अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हुएकी वृत्ति विषयमें पुनः जीवभावको प्राप्त किया जाता है ॥ ४० ॥

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१ ॥

ऊपरसे आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपानवायुको तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायुको परस्पर अपने २ ओर आकर्षण करते हैं योगाभ्यासी पुरुष प्राणायामसे इनहींको जोडकर योग (जोडना) कहते हैं इसी योग जोडनेको हठयोग कहते हैं जो सूर्यचंद्रमा ऐक्य कहाते हैं ॥ ४१ ॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२ ॥

षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकारकरके स्वाधिष्ठानचक्रमें उत्पन्न होता है और सकारकरके मूलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है एवंप्रकार 'हंस' मंत्र (अजपागायत्री) का जप जीव नित्य करताही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलनेमें हकार भीतर प्रवेश होनेमें सकार उच्चारण होता है. सूर्योदयसे पुनः सूर्यास्तपर्यन्त ६० घटीमें इस मंत्रकी जपसंख्या २१६०० होती है इतना जप जीव स्वतः करता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४५ ॥

यह योगियोंको मोक्ष देनेवाली अजपा नाम गायत्री है इसके संकल्पमात्रसे योगी समस्तपापोंसे छूट जाता है संकल्पकी विधि यह है कि सूर्योदयसे पहलेही शयनसे उठकर शुद्धवस्त्र पहन हाथ, पैर, मुख प्रक्षालन कर शुद्ध आसनमें बैठ आचमन करके संकल्पकल्पना इस प्रकार करना कि अद्येह पूर्वद्यु रहो रात्रचरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाजपागायत्रीजपं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णुरुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरीप्राणशक्तिज्ञानशक्तिचिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं, षट्सहस्रं, षट्सहस्रं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकम् अजपागायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य । पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीयप्रातःकालपर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति जायमान-

जपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् । इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है. यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है इसके समान और जप नहीं. क्योंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है उपरांत खाते पीते चलते उठते बैठते सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होता रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहिलेभी नहीं था और पीछे होनेवालाभी नहीं है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कुंडलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥४६॥

कुंडलिनी महाशक्तिमे उत्पन्न हो रही तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है. जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्यास्वरूपभी यही है इसी कारण महाविद्याभी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥ ४६ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कन्दोर्ध्वे कुंडली शक्तिरष्टधा कुंडलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीका और प्रकारभी स्थान कहते हैं कि समस्त ७२००० नाडियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृत्तकरके वेष्टित हो रही कुंडलिनीशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोकके सर्वदा रहती है ॥ ४७ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्णा) करके जन्ममरणके दुःख हरण करनेवाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोकके सोई हुई कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जागृत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होके सुषुम्णानामा मध्यनाडीसे ऊपरको जाती है, जैसे सूची। (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है, तैसे आपही सृष्टि उत्पन्न आप करके षट्चक्र तथा उनके देवताप्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सन्मुख होकर जाती है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५० ॥

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गई) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पायके अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलगति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) के समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्णामार्गसे ऊपरको जाती है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥५१॥

जैसे कूंची (चाबी) से ताला खुलकर कपाट (किंवाड) खुल जाते हैं तैसेही कुंडलिनीकरके मोक्षद्वार सुषुम्णाके मुखको योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधविना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ॥ ५१ ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥५२॥

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधके) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ स्थापन करके पद्मासन करे, चिबुक (ठोडी) हृदयमें दृढतर लगायके अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोकके करे, प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुम्भक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद २ निकले) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है; कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्तिचालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अंगानां मर्दनं कुत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४ ॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासीके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे लवण और खट्टा ये दो रस न खावे केवल दुग्धान्न खाया करे. भोजनभी एक प्रमाणसे करे ब्रह्मचर्य रक्खे कामक्रोधसे रहित रहे त्यागवान् होवे योगाभ्यासका मात्र अभ्यास रक्खे इस प्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे एक वर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होती है इसमें सिद्धि होती है वा नहीं ऐसा संदेह न करना अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं स्निग्ध (सचिक्कण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे दो भाग अन्न एक भाग जल खावे चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड देवे. देवताको निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार विधि करनेहारा योगी मिताहारी कहाता है ॥ ५५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥५६॥

कंदके ऊपर मणिपूरचक्रके कर्णिकामें ८ फेरे होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको शक्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप बन्धन छुटायके मोक्ष देती है ॥ ५६ ॥

अथ शक्तिचालनविधौ ग्रन्थांतरे विशेषः ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

शक्तिचालनमें ग्रन्थांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगायमुनाके बीच तपस्विनी बालरण्डा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) में प्राप्त करती है ॥ १ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुंडली ॥ २ ॥

इडा भगवती वामश्वासा नाडी ऐश्वर्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्य नाडी सुषुम्णा बालरंडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ॥ ३ ॥

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रकेमध्यमें नवांगुल

विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमलवस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ॥ ३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ४ ॥

वज्रासनकरके हाथोंमे पैरोंकी एडी पकड कंदस्थानमें दृढ लगाय पीडन करे ॥ ४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ५ ॥

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ॥ ५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ६ ॥

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलावे इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड गया हो तौभी उसकी मृत्यु न होवे ॥ ६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ७ ॥

चार घडीपर्यन्त निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कछुक सुषुम्णामें ऊपरको उठती है ॥ ७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥८॥

इससे कुंडलिनी (जो सुषुम्णा रोक बैठी है) सुषुम्णाके द्वारको छोड देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्णामें प्रवेश करती है ॥८॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

इसके नित्यप्रति सुषुम्णाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलावे तो योगी सर्व रोगोंसे छूट जावे ॥ ९

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १० ॥

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहजही जीत लेता है ॥ १० ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११ ॥

जो यमी नित्य कुंडलीको चलायके भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेषकरके करता है तो उसे यमका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२ ॥

योगियोंके दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि करके मध्यनाडी (सुषुम्णा) सरल हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ महामुद्राः ।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ॥ ५७ ॥

महामुद्रा १ खेचरीमुद्रा २ उड्डीयानबंध ३ जालंधर ४ मूलबंध ५ इनको करके शक्तिचालन करे तो योगी मुक्तिभाजन होता है शक्ति चली वा नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेमें उसकी गतिसे ज्ञात होता है कि कुछ जीव चलता है ऐसेही सुषुम्णामें वायु जब चलने लगता है तो शक्ति

चलायमान हो गई जानना. शक्तिचालनमुद्राके पीछे भी उक्त ५ मुद्रा करनी योग्य है ॥ ५७ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ॥
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धा शनै रेचयेदेषा ।
व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥५८॥

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एडीसे योनिस्थानको अत्यन्त दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनो हाथोंसे पादमध्यभाग पकडके दृढ रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मन्द मन्द वायुको रेचन करे यह योगी जनको समस्त रोगनाशक महामुद्रा कही है ॥ ५८ ॥

चन्द्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥५९॥

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दहिने अंगसे करे तैसेही प्राणायामभी करता रहे. जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोडनी तबतक उक्त अभ्यास करते रहना ॥ ५९ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६० ॥
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥६१॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६२॥

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ हो जाय तो, पथ्यापथ्यका विचार कुछ नहीं रहता, मिष्ट, लवण, तिक्त आदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता जो (घृत, सहद बराबर मिलायके कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्ध वस्तु वा घोरविषभी खावे तो अमृतके समान पच जाता है तथा उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण क्षय, कुष्ठ आदि रोग समस्त शांत हो जाते हैं. इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना. प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिक आदि जैसे कैसेको न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

'इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं'—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोकके दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाय जैसे एडी भूमिमें रहे और अगुली ऊंची डंडके नाई रहे, तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दाक्षिणपादागुष्ठ पकडके धारण करे ॥ १ ॥

कंठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडाहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कंठमें जालंधरबंध करके वायुके ऊपर सुषुम्णामें धारण करे इससे मूलबंधभी हो जाता है जहां योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्तिभी कुटिलताको छोडकर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और कुंडलिनी बोधसे सुषुम्णामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनोंको

प्राणके वियोगसे इडा पिंगला है आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्रा आदिनाथादि महासिद्धोंने दिखाई हैं. इसके अभ्यासमे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक शोकमोहादि दोष क्षीण होते हैं तथा जरा मरणभी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमें अभ्यास कर सूर्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबलों वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तबलों अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीका योनिस्थानमें लगाय दाहिना पाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे यह वामांगाभ्या है इससे पूरित जो वायु सो वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट तिसकी एडी योनिमें लगाय वामपाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगु तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांगहीमें रहता है ॥ ६ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ७ ॥

कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासको पथ्यापथ्याविचार नहीं है, कटु अम्लादि समस्त रसादिक जो खाय वही पच जावे, नीरस, बासी (पर्युषित) सब पचे, तथा दुर्जर घोर विष आदिभी अमृतके नाई पच जावे ॥ ७ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ८ ॥

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोग आदि कभी न होवे ॥ ८ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ॥ ९ ॥

अथ खेचरीमुद्रा ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी ॥ ६३ ॥

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको उलटी फिरायके कंठमूलमें जो छिद्र (छिगलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं ॥ ६३ ॥

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६४ ॥

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गकरके छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे) प्रकारसे खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होते हैं ॥ ६४ ॥

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६५

जो योगी खेचरीमुद्रा जानके उसे अभ्यास करके सिद्धि करता है वह शोकसे पीडित नहीं होता कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ॥ ६५ ॥

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता॥ ६६ ॥

जिस कारण तहां परब्रह्मविषे एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्य विषें फिरता है तथा जिह्वाभी कंठमूल छिद्राकाशमें रहके ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धिके विषयबंधन निवारण करनेहारी खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ॥ ६६ ॥

बिन्दुमूल शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥ ६७ ॥

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है, पादसे शिरपर्यंत समस्त नाडीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्त-नाडी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाडी बिंदुके आधारमें हैं ॥ ६७ ॥

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥६८॥

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषें खेचरी-मुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी (स्त्री) आलिंगन करे तौभी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है ॥ ६८ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ६९ ॥

जबलों देहमें बिंदु स्थिर है तावत् मृत्युकी भय नहीं होती बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है. जबलों खेचरीमुद्रा दृढ है तबलों बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता. इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ॥ ६९ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥७०॥

कदाचित् एकाग्र न होनेसे बिंदु उतरके नाभिस्थान सूर्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्राकरके कुंडलिनीशक्तिको ऊपर उठायके उसके आघातसे उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटके अपनेही स्थानमें प्राप्त होकर स्थिर रहता है ॥ ७० ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥ ७१ ॥

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ॥ ७१ ॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥७२

तैल मिलायके सिंदूर (हिंगुल) का द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चंद्रमाके स्थान कंठदेश षोडशारचक्रमें स्थिर रहता है इन दोनोंका ऐक्य अंत्यत दुर्लभ है ॥ ७२ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७३ ॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि होकर परम-पद मिलता है. चंद्रमा सूर्यका (प्राणवायु अपानवायुका जीवात्मा परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोगपदका अर्थ है ॥ ७३ ॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥ ७४ ॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं, शस्त्रसे कटता नहीं ॥ ७४ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ७५ ॥

शुक्र बिंदुरूप हो चंद्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्यमें मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वह योगवित् कहाता है, चंद्रमा एवं सूर्यके योगको योग कहते हैं ॥ ७५ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ७६ ॥

नाडीजालके शोधनसे; नाडीमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है. चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका फल है अर्थात् इस मुद्राकरके नाडीजालका शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसोंका शोषण होता है ॥ ७६ ॥

ग्रन्थांतरे खेचरीमुद्राविधिः ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रन्थांतरसे कहते हैं कि छेदन-चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींचखींचके

जिह्वाको लंबी करे जबतक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबतक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं कि थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ॥ २ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

तिसके पीछे सेंधानमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परंतु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य करना योग्य है. ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे पुनः उक्त औषधी लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिरा बन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाडी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुँचानेमे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाप्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प बिच्छू आदियोंका विष न लगे और

बुढापा, रोग, मृत्युको जीते, वलीपलित (जो बुढापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पडती हैं) न होवें ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिर करके भ्रमध्यगत चंद्रमासे निकले अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५ दिन) में मृत्युको निःसंदेह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दृष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चंद्रामृतकरके पूर्ण हो जाय तो तक्षकनागभी उसे डसे तौभी विष न लगे, दुःख न होवे ॥ ८ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित बत्तीको नहीं छोडता तैसेही चंद्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोडता ॥ ९ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांसभक्षण एवं अमरवारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्द यहां जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांसभक्षण कहते हैं, यह महापातकोंका नाश करता है ॥ ११ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥१२॥

अमरवारुणीका अर्थ यह है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाका प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वामभागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥१२॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् १३॥

जब पूर्वोक्तकर्मोंसे जिह्वा बढायके उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरिचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृतके आदि स्वाद आपसे ज्ञात होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है शस्त्र (जो अपनेको काटने आया) का निवारण होता है आठों सिद्धि मिलती है देहभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ॥ १३ ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वा-
स्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति १४

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाय मुख विपरीतकरणीके तरह ऊंचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य द्विदलकमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मल-धारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे योगी पान करे उसको ज्वरादिरोग न होते तथा कमलके गाभेकासा कोमल शरीर होकर बहुतकालपर्यंत जीवे ॥ १४ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥१५॥

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्णाके उपरिभागमें स्थित चंद्रामृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि करके आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी आदि नाडियोंका उक्तविवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलगत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरा मृत्युको प्राप्त होता इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती. इस मुद्राके विना देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ॥ १५ ॥

सुषिरज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमान्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ १६ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ इनका प्रवाह ऊपरको है सो इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको साक्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है सो अविद्या एवं अविद्याके कार्य शोक, मोहादि दूर होते हैं जिसमें ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ॥ १६ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ १७ ॥

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है समस्तदेवताओंमें भगवान् मुख्य है तैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ॥ १७ ॥

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७७ ॥

जिस कारण उड्डीयानबंधसे रुका प्राणवायु कहींभी विश्राम न करके उडके जैसा सुषुम्णामे गति करता है उसी कारण तहां मृत्युरूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यही बंध कहाता है ॥ ७७ ॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ॥ ७८ ॥

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं, कि उदरमे पश्चिम और नाभीसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ॥ ७८ ॥

ग्रन्थान्तरे।

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ॥ १ ॥

नाभीका ऊपरला तथा नीचला भाग उदरमें लग जाय ऐसे पेटको पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं. मृत्युरूपी गजको निवृत्त करनेके लिये सिंह समान है ॥ १ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ २ ॥

हितोपदेशकर्त्ता गुरुकरके सहज स्वभाव कहा गया ऐसे इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्धभी तरुण हो जावे ॥ २ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ३ ॥

नाभी ऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगावे, ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीते ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ४ ॥

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है . इसके करनेसे पक्षियोंकेसी गतिकरके सुषुम्णाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविक मुक्ति है ॥ ४ ॥

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९ ॥

जालंधरबंध कहते हैं कि यह बंध कंठस्थानमें होता है अनेक रोगोंको हरता है शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है व्योमचक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपाल कुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण वह जालंधर बंध कहा है ॥ ७९ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८० ॥

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है इससे चंद्रकलामृत गिरके सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ॥ ८० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं कि कंठ नीचे नवाय हृदयके चार अंगुल अंतर ठोढी लगाय दृढ स्थापन करे यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ॥ १ ॥

कण्ठसंकोचनेव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ २ ॥

दृढ संकोचनमात्र करके इडा पिंगला दोनहूं नाडी स्तंभित होती हैं कंठस्थानमें जो विशुद्धनामा चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरं-

प्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन १६ आधारोंका वर्णन पूर्व १३ श्लोकके टीकामें कर आये हैं ॥ २ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ३ ॥

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कंठ नमाय जालंधरबंधसे इडा पिंगला नाडियोंको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिममार्ग सुषुम्णामें प्राणवायुको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ४ ॥

इस विधिसे वायुकी गति बंद होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थित रहता है, इसे प्राणलय कहते हैं इससे मृत्यु जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा, आलस्यादिक नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ५ ॥

मूलबंध १ उड्डीयानबंध २ जालंधरबंध ३ ये श्रेष्ठ हैं मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं, हठके उपायोंके सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चंद्रमासे कलुक अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहको वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्तसूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे उक्त अमृत सूर्यके मुखमें न पडे यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्राभी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं विना गुरु कोटिसंख्याक शास्त्रके अर्थमेंभी न जाने जाते हैं ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचके प्राणवायुसे योजित करना, पादकी एडीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अंचतके गुदद्वारको दृढ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकले इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल मूत्र क्षय होते हैं और बूढाभी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १ खेचरी २ उड्डीयान ३ जालंधरबंध ४ मूलबंध ५ कही हैं अन्य महाबंध १ महावेध २ विपरीतकरणीमुद्रा ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ ये पांच इसी शतकमें साधारणप्रकार पूर्वेही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये मैं उन्हें ग्रन्थांतरमतसेभी लिखता हूं '–

तत्र प्रथमं महाबन्धः ।

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उससे ऊपर स्थापन करे अर्थात् मूलबंध करके ॥ १ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२॥

तब जालंधरबंध करके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्णामें प्रवृत्त करे ॥ २ ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ ३ ॥

यथाशक्ति कुंभक करके मंद २ रेचन करे एसेही वामांगमें अभ्यास करे दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ॥ ३ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ ४ ॥

यह समस्त नाडियोंकी ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है ॥ ४ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ५ ॥

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा तीनोंके संगम (त्रिवेणी) धारण कर मनको (केदार) भ्रूकुटी शिवस्थानमें प्राप्त करे ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष विना व्यर्थ है ऐसेही महावेध विना महामुद्रा और महाबंध निष्फल हैं इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ महावेधः ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि करके योगी महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुटसे पूरक करके जालंधर बंध कर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनोंहू हाथोंकी हथेली समान पृथ्वीमें धरके पादकी एडीको योनिस्थानमें दृढ लगाय हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठावे (परंतु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मंदमंद पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा पिंगलाको उलंघन कर सुषुम्णामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठायकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती. यदि बलसे रक्खाभी तो मूलबंध बिगड जाता है इससे सुगम तो पद्मासनसे यह कार्य सुखपूर्वक होता है औरभी सुभीता यह है कि हाथोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमताहीसे होता है ॥ २ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचंद्रमा अग्न्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्णाका संयोग मोक्षके हेतु है ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था होती है तब नासिकापुटमें मंद २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मिलती हैं । वली (बुढापेमें मुखपर सलवटें पडनी) पलित (बाल श्वेत होने) कंप (बुढापेमें शरीर कांपना) ये उक्त अभ्यासीको नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध गोप्य हैं बुढापे तथा मृत्युको दूर करने हैं जाठराग्निको बढाते हैं अष्टसिद्धि देते हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठो प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पुण्यको बढाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सुखाते हैं शिक्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २ प्रहर २ में थोडा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

अथ विपरीतकरणमुद्रा ।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालु-करके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इसमें चंद्रामृत सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडने पाता यह विपरीतकरणी मुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने उदाहरण कुछेक लिखकर लिखा गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड दिया. इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्टमार्गसे लिखता हूं कि, दोनोंहू पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनोंहू हाथ और शिर (चोटी) को पृथ्वीमें लगाय, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खडा करे अभ्यास हुयेमें कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फेर वैसेहीमें पद्मासन करे हाथ और शिरके सहारे उलटा खडा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्यासमें सुगम हो जाती है ॥ १ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूंकती है; अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥४॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढायके अभ्यासमें साधे तो सिद्धि भयेमें वली पलित छः महीनेमें दूर हो जाते हैं. जो प्रतिदिन एक २ प्रहरपर्यन्त इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ॥ ४ ॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोलीको जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको दो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः ये २ अवश्य चाहिये. वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री ये दो उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वं कुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगम करके मंद मंद क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खैं-चनेके अभ्यास सिद्ध हुएमें वज्रोली मुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥३॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांगक्रिया कहे हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २ अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन २ । २ अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ (?) अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे अभ्यास सिद्ध हुएमें वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है. जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हो उसको वज्रोली सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होतेभी उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच लेवे अथवा जब भगमें गिर पडे तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढायकर स्थापन करे ॥ ५ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है सो योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु, उसकी रक्षासे अमरत्व होते हैं इसलिये इन विधिसे बिंदुको स्थापन करे ॥ ६ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबलौं देहमें बिंदु स्थित है तबलौं कालभय नहीं होता ॥ ७ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥

वीर्य चित्तके अधीन है. चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है एवं शुक्रके अधीन जीवित है इससे स्थिरतासे जीवित स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी मुख्य है ॥ ८ ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षण करके ऊपरको खांचके स्थापन करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥ ९ ॥

एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोलीभी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं–

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली अमरोलीकेभी हैं इसलिये येभी उसीके भेद हैं, गोबरके (कंडे) गोपट्टे जलायके भस्म जलमें मिलावे १॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसो स्वांगलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली अर्थ मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठके व्यवाय व्यापार छोडके उक्त भस्म जलमें मिलाय स्त्रीपुरुष अपने २ सर्वांग लेपन करे ॥ २ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है अन्यत्र साधनाओंमें जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्ष भी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी है उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) है उनको सफल नहीं होता ॥ ४ ॥

' अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं '–

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् । निषेव्यते शीतलमध्यधारां कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ १ ॥

शिवांबुक प्रथमधारा पित्तके उष्णतासे तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं. यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरीप्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोलीका अभ्यास करें सोही कापालिकी अमरोली कही है ॥ २ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिलायके उत्तमअंग मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादिमें धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखने योग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ स्त्रीणां वज्रोली ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंको वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यासकी चतुराईसे पुरुषके बिंदुको खींचके अपने रजको वज्रोलीमुद्रा करके रक्षा करे वहभी योगिनी कहाती है ॥ १ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुता येन गच्छति ॥ २ ॥

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्पभी नहीं होता तथा शरीरमें नादभी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग होय तो योगसिद्धि होती है परमपद मिलता है इनके संयोगमें समस्त देवता स्थिर रहते हैं ॥ २ ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त, होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ॥ ३ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेत् ध्रुवम् ॥ ४ ॥

जो स्त्री भगको आकुंचन करते करते रजको ऊपर शरीरमें चढाय रक्षा करे वह योगिनी होती है. भूत, भविष्य, वर्तमान जाने अंतरिक्षमें बीच रहनेहारी वैमानिकगति मिलती है ॥ ४ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ९ ॥

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल, वज्रसंहननभाव मिलते हैं. यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमेंभी मुक्ति देता है ॥ ९ ॥

' इनमें दश शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं '—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १ ॥

ये दश (१०) मुद्रा आदिनाथ शिवने कही हैं इनमें एक एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेहारी है ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश देवे वही सर्व गुरूमें श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर हैं ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

अथ प्रणवाभ्यासः ।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणवके अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ पद्मासन बांधके शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणवजप करे ॥ ८३ ॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८४ ॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः १ भुवः २ स्वः ३ ये लोक चन्द्रमा १ सूर्य २ अग्नि ३ देवता रहते हैं, वह प्रणव परमकारणरूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐकारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५ ॥

जिस प्रणवमें भूत, वर्तमान, भविष्य ३ काल, ऋक्, यजुः, साम तीनों वेद, स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ३ लोकः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ३ स्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन देवता रहते हैं वह प्रणव (ॐकार) स्वरूप परब्रह्म ज्योतिस्वरूप है ॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६ ॥

जिस प्रणवके अ, उ, म, तीन मात्रा ॐक्रिया, इच्छा, ज्ञान शक्ति भेदोंकरके ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी ये शक्ति रहती हैं सो प्रणव ओंकारस्वरूप परब्रह्म ज्योति है ॥ ८६ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७ ॥

त्रिलोकात्मा अकार उकार और बिंदुस्वरूप मकार तीनहू मात्रा रहती हैं जिसमें ऐसा ब्रह्मज्योतिस्वरूप प्रणव है ॥ ८७ ॥

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८ ॥

इस प्रणवको सकल जगत्कारण भूतभावना करके वचनसे जप करना शरीरसे सिद्धासनादिसे सगुण ब्रह्मकी भावना करके प्रणवार्थ समझ अभ्यास करना तथा मनसे परंब्रह्मस्वरूप प्रकाश चैतन्य समझके सर्वदा स्मरण करना ॥ ८८ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९ ॥

जो योगी बाह्याभ्यंतर शौचयुक्त वा बाह्यशौचमात्र यद्वा जैसे तैसे होकर प्रणवका अर्थ समझ अभ्याससे जप करता है उसको शारीरकपाप स्पर्श नहीं करते. जैसे कमलदल जलमें रहता है परन्तु जल उसके पत्रको स्पर्श नहीं कर सकता ऐसेही उक्त विधिका प्रणवाभ्यासीभी निर्लेप रहता है ॥ ८९ ॥

अथ प्राणायामप्रकारः।

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुंधयेत् ॥ ९०

प्राणवायुके निश्वासोच्छ्वास होते रहतेमें बिंदुभी चलायमान होता है जो प्राणवायु स्थिर होगा तो बिंदु स्थिर हो जाता है, जब प्राणायामसे प्राणवायु स्थिर हो गया तो योगी चिरकाल योगाभ्यासमें समर्थ होता है दीर्घजीवी तथा ईश (शिव) भावको प्राप्त हो जाता है. इस लिये योगीको वायुनिरोध करना मुख्य है ॥ ९० ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९१

जबलौं शरीरमें वायु स्थिर रहता है तबलौं जीव शरीरको नहीं छोडता जब प्राणवायु शरीरसे निकल जाता है तो उसी अवस्थाको मरण कहते हैं. जीवन मरण प्राणवायुके अधीन है, इसलिये प्राणवायुका रोधन अवश्य विधिसे करना चाहिये ॥ ९१ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम्।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२ ॥

जबतक प्राणवायु कुंभकमें देहमें स्थिर है तथा जबतक चित्त विषयवासनां त्याग अन्तःकरण ईश्वराकार निर्विकार है और जबतक भ्रूमध्यमें दृष्टि निश्चल है तबतक कालकी भय नहीं होती है ॥९२ ॥

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत्॥ ९३ ॥

जिस कारण जीवनमरण प्राणवायुके अधीन है इसी हेतु ब्रह्मा एवं सनकादि सिद्ध, दत्तात्रेयादि मुनि, प्राणायामके साधनमें तत्पर हैं अन्य योगियोंकोभी इस अभ्यासमें कालकी भय नहीं होती इस हेतु प्राणायाम साधन करना योग्य है ॥ ९३ ॥

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ९४ ॥

प्राणवायु अपानवायुरूप हंस इडापिंगलाके मार्गसे छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इस हेतु ' बहिः प्रयाणं कुरुते प्राणः ' उक्तवायु प्राण कहाता है प्राणापानवायुरूप हंस है और नहीं ॥ ९४ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ९५ ॥

जब शरीरके मलसे व्याप्त नाडीजाल, नाडीशोधन प्राणायामके प्रभावसे शोधके शुद्ध निर्मल होता है तब योगाभ्यासोपयोगी प्राण वायुको थामनेकी सामर्थ्य योगीको होती है अन्यथा नहीं ॥ ९५ ॥

अथ नाडीशोधनप्राणायामविधिः ।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥९६ ॥

नाडीशोधन करनेवाले प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतमें स्थूल और कोमल आसनमें बैठकर पद्मासन बांधे तब चन्द्रनाडी (इडा) से १२ संख्याप्रणव जप करते मन्द मन्द पूरक तथा १६ संख्यासे दोनों ओर थामके कुंभकमें चन्द्रमण्डलका ध्यान करना और १० संख्यामें सूर्यनाडी (पिंगला) से मन्द मन्द रेचन करे यह चन्द्रांग (वामांग) प्राणायाम है ॥ ९६ ॥

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिंबं प्राणायामी सुखी भवेत् ९७॥

चन्द्रांगप्राणायाममें दधि, दुग्ध समान अतिशुक्लवर्ण अमृतस्वरूप चन्द्रमाका कंठ तथा नाभिमें ध्यान करनेसे आनन्दका अनुभव होकर सुख मिलता है ॥ ९७ ॥

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८ ॥

सूर्यनाडी (पिंगलामार्ग) से प्राणवायु १२ संख्यासे प्रणव जपसहित पूरकके १६ संख्यासे कुंभकमें आदित्यमंडलका ध्यान करना और १० संख्यासे प्रणवजप करके चंद्रनाडी (इडामार्ग) से मंद २ रेचन करना यह दक्षिणांग (सूर्यांग) प्राणायाम है ॥ ९८ ॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत् ॥ ९९ ॥

सूर्यांग प्राणायाममें कुंभकविषय जाज्वल्यमान अग्निज्वालासमुदायसमान अग्निमय सूर्यमंडलको अपने नाभिकमलमें ध्यान करके जो योगी प्राणायाम करे तो आनंद पाता है ॥ ९९ ॥

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १०० ॥

उक्त ४ श्लोकका अर्थ सूक्ष्मसे पुनः कहते हैं कि यदि प्राणवायुको वामनासापुटसे १२ प्रणव जपसे पूरक १६ जपसे चंद्रमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० जपसे रेचन सूर्यनाडीसे करना यह एक प्राणायाम हुआ, पुनः दक्षिण नाडीसे १२ जपकर पूरक १६ से सूर्यमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० से रेचन करना दूसरा प्राणायाम हुआ, पुनः वामसे पूरक दक्षिणसे रेचन करके तीसरा प्राणायाम हुआ, इसी प्रकार चंद्रांग पूरकके कुंभकमें चंद्रबिंब

प्राणवायुस्वरूपका और सूर्यांग पूरकके कुंभकमें सूर्यबिंब अपान-वायु स्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके समस्त नाडीजाल तीन महीने उपरांत शुद्ध (निर्मल) होते हैं. यह नाडीशोधनका उत्तम प्रकार कहा है जो संयमसे रहके धौति १ नेति २ नौली ३ बस्ति ४ त्राटक ५ भस्रा ६ षट्कर्ममें परिश्रम न करे तौभी इनही प्राणायामोंके अभ्याससे उनका उक्त कृत्य संपादित हो जाताहै जैसे कहाभी है कि " प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुध्यन्ति मला इति । आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ " अर्थात् प्राणायामहीसे नाडीमल शुद्ध हो जाता है इसलिये याज्ञवल्क्यादियोंके अन्य धौत्यादि षट्कर्म संमत नहीं है ॥ १०० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

प्रातर्मध्यंदिनं सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अरुणोदयसे सूर्योदयपर्यंत ३ घटी प्रातःकाल दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग मध्याह्न, सूर्यास्तसे ३ घटी आगे पीछे सायंसंध्याकाल और अर्द्धरात्रिमें २ मुहूर्त निशीथ काल होता है इन चारोंमें प्रत्येकमें ८० । ८० प्राणायाम करना अर्द्धरात्रिमें न कर सके, तीनों कालमें अवश्य अभ्यास करना. चारों समयके ३२० और ३ समयके २४० प्राणायाम होते हैं ॥ १ ॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥२॥

जिसमें प्रस्वेद आवे वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम है, जिसमें वायु ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त हो सो उत्तम कहाता है इससे योगी निरंतर वायुका अभ्यास करे और कुछ कम ४२ विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ, ८४ से मध्यम, १२५ में उत्तम प्राणायाम काल कहते हैं जब प्राणायाम स्थिर हो जाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रको प्राप्त होना

है तहां २५ विपला स्थिर रहे तब प्रत्याहार २५ पलापर्यंत रहे तो धारणा तथा ६ घटी रहे तो ध्यान और बारह दिन रहे तो समाधि होती है ॥ २ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ ३ ॥

प्राणायामश्रममें जो पसीना आवे उसे सर्वांगमें खूब मले इससे गात्र लघु और दृढ होते हैं अर्थात् जडताका अभाव होता है ॥ ३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४ ॥

अभ्यासकालमें दूध, घृत भोजन करे जब केवल कुंभकाभ्यास दृढ हो जाय तब उक्तनियमका कुछ आग्रह नहीं ॥ ४ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥५॥

जब नाडीशुद्धि हो जाती है तो बाहर चिह्न देहकी कृशता कांतिवर्द्धन आदि निश्चय देखनेमें आते हैं बहुतकालममय कुंभक धारण करनेसे जठराग्निप्रदीप्ति, नादकी प्रकटता और निरोगिता होती है ये सर्व नाडीशुद्धिके गुण हैं ॥ ५॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधने ॥ १०१ ॥

इति गोरक्षशास्त्रे प्रथमशतकम् ॥ १ ॥

नाडीशोधन हुएमें अपने समझे योग्य मंत्र, जप, कालपर्यंत प्राणवायुके धारणसामर्थ्य होती है उदराग्नि प्रदीप्त स्पष्टतर नादका श्रवण और नैरुज्यता होती है ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षयोगशास्त्रभाषायां संग्रहायां योगाङ्गपूर्वाभ्यासविधिः ॥ १ ॥

अथ

द्वितीयं शतकम् ।

' जो पूर्व १०० श्लोकके टीकामें लिखा गया है कि धौति आदि ६ कर्मका कार्य प्राणायामसे हो जाता है इन्हें न करे परंतु किसी २ आचार्योंका यहभी मत है कि'—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

जिसका भेद और श्लेष्मा अधिक हो उसको प्राणायामसाधनमें अत्यंत कष्टसेभी अभ्यास दृढ नहीं होता इसलिये उनको प्रथम षट्कर्म करके तब प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इसलिये षट्कर्मविधि कहते हैं ।

तत्रादौ धौतिः ।

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ १ ॥

चार अंगुल चौडी, पंद्रह हाथ लंबी, बारीक वस्त्र (पगडी) की पट्टी थोडे गरमजलमें भिगोय मुखमें पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ एवं क्रमसे १५ दिनमें पूरी गुरूपदिष्टमार्गसे निगल जावे ॥ १ ॥

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगांश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २ ॥

उक्त वस्त्रका पिछला किनारा मुखमें दांतोंसे दाब ओठोंसे लगाय नौलीकर्म करे इससे छातीमें लगा वस्त्र उदर (अंतडियों) में पहुँच साफ करता है तब थोडा २ बाहर निकाल डाले यह धौतिकर्म

है. कास, श्वास, प्लीहा कुष्ठादि, विषरोग, बीस प्रकारके कफरोग इस धौतिकर्मके प्रभावसे निस्संदेह नाश हो जाते हैं ॥ २ ॥

अथ बस्तिः ।

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ १ ॥

अब बस्तिकर्म कहते हैं कि नाभिमात्र जलमें उत्कटासन बैठकर छः अंगुल लंबी और अंगुल प्रवेशयोग्य छिद्रवाली बांसकी नली चार अंगुल गुदामें प्रवेश कर गुदा आकुंचन करके पेटमें जल चढाय नौलीकर्म करके बाहर छोड देवे यह बस्तिकर्म है. धौति बस्ति बिना भोजन किये करने न चाहिये तथा इनके उपरांत शीघ्र भोजन करना योग्य है ॥ १ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्तिकर्मसे गुल्म, प्लीहा, जलोदर, वात. पित्त, कफसे उत्पन्न सर्व रोग नाश होते हैं ॥ २ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ ३ ॥

जलमें बस्तिकर्मके अभ्याससे शरीरके सप्त धातु रस १ रुधिर २ मांस ३ मेद ४ अस्थि ५ मज्जा ६ शुक्र ७ तथा पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ताप, विक्षेप, शोकादि, मोह, गौरव, आवरण, दीनता, राजसतामसका धर्म सभी निवृत्त होते हैं. प्रसन्नता, कांति बढती है. जठराग्नि दीप्त होती है. वातादि समस्त दोषोंको दूर कर निरोगिता होती है ॥ ३ ॥

अथ नेतिः ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ १ ॥

अब नेतिकर्म कहते हैं कि एक बालिस्त मुलायम, एवं ग्रंथिरहित सूत्रका एक किनारा नासिकाके एक पुटमें प्रवेश कर दूसरे पुटको बंद कर पूरक करे जब कुछ सूत्र ऊपर चढे तब मुखश्वास छोडकर सूत्र बाहर निकाले तब एक किनारा मुखके बाहर दूसरा नासिकाके बाहर दोनोंको हाथोंसे पकड शनैः शनैः चलाता रहे इसे नेतिकर्म सिद्धजन कहते हैं ॥ १ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ २ ॥

यह क्रिया कपोल तथा नासिकादियोंके मल दूर कर सूक्ष्मपदार्थदर्शी दिव्यदृष्टि देती और जत्रु (कण्ठमूल) स्थानसे ऊपर समस्त रोगसमूहको शीघ्र शान्त करती है ॥ २ ॥

अथ त्राटकम् ।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ १ ॥

अब त्राटक कहते हैं कि एकाग्र दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म वस्तुको जबलौं नेत्रोंमें पानी न आवे निरंतर देखता रहे. नेत्रोंमें जल आनेपर छोड देवे इसे मत्स्येंद्रादि त्राटक कहते हैं मैं (भाषाकार) समझता हूं कि सूक्ष्म वस्तुके स्थानमें प्रथम नासाग्र अभ्यास होनेपर भ्रूमध्य देखे तो औरभी अच्छे गुण शीघ्र होंगे ॥ १ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ २ ॥

यह त्राटककर्म नेत्ररोगनाशक, बल बढानेवाला, आलस्यनिद्रादियोंका कपाट (केवाड) है तंद्रा और तमोगुणी चित्तवृत्तिके

क्रोधादिकोंको दूर करता है जैसे सुवर्णकी पिटारीको यत्नसे रखते हैं ऐसेही इस कर्मकोभी गोप्य रक्खे ॥ २ ॥

अथ नौलिः ।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अब नौलिकर्म कहते हैं कि दोनोंहू कंधा नीचे नवाय उदरके दक्षिणवामभागकरके जलके भ्रमर (भौंरे) के नाई घुमावे इसे सिद्धलोग नौलि कहते हैं. अनुभवसिद्ध यहभी है कि दक्षिणवामभागसे घुमायके अभ्यास हुएम नीचे ऊपरकोभी चरखीके समान उदरनलको घुमाना चाहिये ॥ १ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणीच हठक्रियामौलिरियं हि नौलिः

यह क्रिया मंदाग्निको बढाय भोजन किये अन्नादिकोंको शीघ्र परिपाक करनेवाली, समस्त वातादिरोगोंको सुखानेवाली, आनदको देनेवाली, धौत्यादि सर्व कर्मोंमें (श्रेष्ठ) मुकुट है धौति बस्ति इन दो क्रियाओंमे नौलि कहनी होती है इसलिये यहां नौलिकी विधि कही है ॥ २ ॥

अथ कपालभातिः ।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ १ ॥

अब कपालभातिकर्म कहते हैं कि लुहारकी धौंकनी (खाल) के नाई शीघ्र शीघ्र रेचन जो रेचकपूरक करे इसे कपालभाति कहते हैं इससे वीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ २ ॥

उक्त षट्कर्मोंकरके स्थूलभाव कफदोष मलपित्तादि दूर हो जाते हैं तब प्राणायाम करे तो विनाश्रमही योगसिद्धि होती है ॥ २ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले । क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकारिणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३ ॥

अब गजकरणीमुद्राभी प्रसंगसे कहते हैं कि, अपानवायुको कंठनालमें चढाय उदरगत भुक्तपीत अन्न जलादिकोंको निकाले इस अभ्याससेभी नाडीचक्र अपने अधीन (वशीभूत) होता है इसे हठज्ञ योगी गजकरणी कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ उत्तरार्द्धग्रन्थः ।

' पूर्वोक्त प्रकारोंसे नाडीशोधन हुएमें यम, नियम, आसन साधके षट्चक्र षोडशाधारका कर्म जानकर नाडिजाल नाडिगत वायु ज्ञात हुएमें चन्द्रतारानुकूल शुभदिन शुभ मुहूर्तमें लग्ननवांशादि शुभ साधके एकांतस्थलमें श्रीगुरु गोरक्ष, गणेशका पूजन मंगलपाठ स्वस्त्ययन कराय योगाभ्यासोपदेशक श्रीगुरुका आराधनसे संतुष्ट कर उन्हींकी आज्ञासे योगाभ्यासको आरंभ करना इसमें प्रथम प्राणायामका विस्तार कहते हैं '—

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्धाटयेद्गगने गतिम् ॥ १ ॥

प्राणवायु जो देहमें स्थित है और मूलाधारस्थित अपानवायुको ऊपर उठाय रोधकर एकही श्वासमें कुंडलीकरके रुका हुआ सुषुम्णाद्वारको खोलके सुषुम्णानाडीके चिदाकाशमें ऊर्ध्वगति कराता है सो प्राणायाम सुगम होता है ॥ १ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥ २ ॥

रेचक, पूरक, कुंभकके भेदकरके प्राणायाम तीन प्रकारका होता है. बाहरके वायुके अभ्यंतर प्रवेश करना पूरक, वायुको भीतरही रोकना कुंभक, रुद्धवायुको बाहर निकालना रेचक होता है. प्रणवका स्मरण करनेवाला प्राणायाम है. ब्राह्मणको प्रणवका क्षत्रिय वैश्यको एकाक्षर मंत्रजपका अधिकार है. पूरकमें अकारका स्मरणपूर्वक १२ प्रणव जपके चंद्रनाडीसे पूरक उकारके स्मरणपूर्वक चन्द्रमण्डलका प्रणव ध्यानसहित १६ प्रणवजपसे कुंभक और मकारके ध्यानपूर्वक १० जपसे रेचक करना. यह एक प्राणायाम होता है ॥ २ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ ३ ॥

प्राणायामके अभ्यास करते २ यदि संयम पूरा न पहुँचे तो नाडी मलिन हो जाती है इसलिये पुनः नाडीशोधन प्राणायाम कहते हैं कि, चंद्रांग, सूर्यांग, प्राणायाम, प्राणापानवायुसंयुक्त १२ प्रणव मात्राकरके पूरक चंद्रसूर्य मंडलध्यानयुक्त १६ मात्रा करके कुंभक और १० मात्रासे रेचक करके चंद्रसूर्य नाडी मलको नाश करते हैं ऐसा योगियोंने जानना ॥ ३ ॥

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत् ।
रेचके दश ओंकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥ ४ ॥
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ५ ॥

पूरकमें १२, कुंभकमें १६, रेचकमें १० मात्रा प्रणवकी यह प्राणायामप्रकार कनिष्ठ है, इससे द्विगुण अर्थात् पू० २४ कुं० ३२ रे० २० यह मध्यम और पू० ३६, कुं० ४८, रे० ३० यह उत्तम प्राणायाम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ६ ॥

कनिष्ठप्राणायाममें प्रस्वेद (पसीना) होता है. मध्यममें कंप होता है, उत्तममें योनिका आधार उठता है इसलिये प्राणायामका अभ्यास करना मुख्य है ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतस्थलमें मोटे दलवाला कोमलकंबलादि आसनमें पद्मासन बांधके बैठकर श्रीगुरु एवं शिवको प्रणाम करे अमृत स्रवित हो रहा ऐसे चंद्रबिंबका ध्यान भ्रूमध्यकरके दोनहू दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थापन करे तदनंतर ब्राह्मण प्रणवका क्षत्रिय वैश्य ओम् इति एकाक्षरमंत्रका पूर्वोक्त मात्राके प्रकारसे पूरक, कुंभक, रेचक प्राणायाम, चंद्रांग, सूर्यांग प्रकारकरके निरंतर करता रहे मूलाधार संकोचनपूर्वक अपानवायुको ऊपर खींचके प्राणवायुसे ऐक्य करे तब अपानवायुमिलित प्राणवायुको शक्तिचालनमुद्रासे उठाई गई कुंडलिनीको सुषुम्णामार्गसे ऊपरको चढावे इतने विधि करनेसे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ॥ ९ ॥

केवल कुंभकप्राणायामका प्रकार कहते हैं कि षण्मुखीकरके पूरकवायुसे उदर पूर्ण करके ऊपरके ७ नीचेके २ इन नव द्वारोंको रोकके मूलाधारगत कालाग्नि अपानवायुसहित शक्तिचालनप्रकारसे

प्रबुद्ध हो रही कुंडलिनीको ऊपरको उठाय आज्ञाचक्रते ऊपर उक्त वायुसे पूर्णकरके स्थिर करे सहस्रकमलमें रहते परमात्माका ध्यानसे ज्योति प्रत्यक्ष करके यावत्कालसम योगी निश्चल होकर परमात्माका ध्यान करता है यही काल योगीका मोक्षसम है. आत्मध्यानतत्पर योगीश्वर सिद्ध इस योगीकी धन्यवादपूर्वक स्तुति करते हैं यही परम फल योगका है ॥ ९ ॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १० ॥

इस प्रकार नित्य निरंतर अभ्यासमें प्राणायाम करता अनेक पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि होता है. संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला महासेतु (बडा पूल) योगिजनोंकरके यही प्राणायाम कहा जाता है ॥ १० ॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ ११ ॥

पश्चिमतानआदि आसनोंसे शरीरके अशेष रोग नाश होते हैं प्राणायामसे समस्त पातक और प्रत्याहारसे मानसिक अनेक विकार नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

धारणाभिमतौ धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् १२

धारणासे मनमें धैर्य बढनेसे उत्तम उत्तम ज्ञान मिलता है ध्यानसे अद्भुत चैतन्य सर्वशारीरक ज्ञान मिलता है समाधिमे अभिमान त्याग होकर जिसमें पुण्य पाप लिप्त नहीं होते ऐसा कैवल्य मोक्ष मिलता है ॥ १२ ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा ॥ १३ ॥

धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥

बारह प्राणायाम करके प्रत्याहारके फल देनेवाला प्रत्याहार (१२) प्रत्याहार (१४४ प्राणायाम) का धारणका फल देनेवारी धारणा (१२) धारणा (१७२८ प्राणायाम) का प्राणायामरूप ध्यान (१२) ध्यान (२०७३६ प्राणायाम) का प्राणायामरूप समाधि होती है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते॥ १५॥

समाधिका स्वरूप कहते हैं. मूलाधारचक्र चतुर्दलकमलकर्णिकामें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभूलिंगके शिरमें देदीप्यमान बिंब है बिंदुस्वरूप कुंडलिनीका है यह दीप्यमान बिंब समाधिमें अंत न मिलनेवाला, समस्त जगत् व्याप्त करनेवाला उत्तम ज्योति कालाग्निस्वरूप प्रगट होता है इसके दर्शन समाधिद्वारा मिलनेसे जन्ममरण नहीं होते कर्ममें लिप्त नहीं होता कैवल्यका अनुभव हो जाता है ॥ १५ ॥

संबद्धासनमेढ्रमंघ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटाद्
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः॥ १६॥

समाधिकी प्रक्रिया दिखाते हैं. प्रथम सिद्धासन बांधके दोनहूं हाथोंके अंगुष्ठोंसे दोनहूं कर्णछिद्र, तर्जनियोंसे नेत्र, मध्यमाओंसे नासिका और अनामिका २ कनिष्ठा २ से मुख रोकके अधिमुखद्वारसे पूरित करके मूलाधारमें रहनेवाला अग्नि तथा अपानवायुसहित प्राणवायुको हृदयकमलमें धारण कर ऊपरको चढाय सहस्र-

दल कमलमें धारण करना इस प्रकार समाधिके अभ्यास करनेवाला योगी अपानवायुसंमिलित प्राणवायुमय होकर सर्वद्रष्टा साक्षिभूत अंतरात्माके तुल्यताको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥ १७ ॥

उक्त प्रकारसे प्राणवायु जब (गगन) सहस्रदल कमलमें प्राप्त हो जाय तो घंटा नगारे आदि वाद्योंकी ध्वनि प्रकट होती है इस चिह्नके मिलनेपर योगसिद्धि समीप है जानना ॥ १७ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ॥ १८ ॥

यथायोग्य निरंतराभ्यस्त प्राणायामसे सब रोग क्षय होता है ऐसेही अविधि विच्छिन्नाभ्यासादि प्राणायामसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥ १९ ॥

अयुक्त प्राणायामाभ्याससे वायु विरुद्ध होकर हिचकी, कास, श्वास, शिरःपीडा, कर्णशूल, नेत्रव्यथा आदि रोग उत्पन्न करता है ॥ १९ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ॥ २० ॥

जैसे सिंह, व्याघ्र, गज इत्यादि दुष्ट जंतु मंदमंदकरके उनके अनुकूल क्रमक्रमसे करके पालकके वशमें रहते हैं तथापि किसी समय थोडाभी उनमें विरोध होनेमें अपनेही पालकको मार डालते हैं तैसेही पवनभी युक्त अभ्याससे वशवर्ती होता है अयुक्तअभ्याससे रोगादिकोंकरके अभ्यासीको अनिष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः ॥ २१ ॥

वायु शनैः शनैः रेचन करना जैसे नासाछिद्रके सामने रुईका फोहा रक्खा हुआ न उडे ऐसेही शनैः शनैः पूरकभी करना युक्त युक्त पूरक करना जिससे चित्तोद्वेग श्वासोत्कटता न होवे थोडेसे क्रम सहनयोग्य बढावना उचित है इससे सिद्धि नजदीक मिलती है ॥२१॥

अथ ग्रन्थान्तरे प्राणायामभेदाः ।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरमें प्राणायामके भेद कहते हैं कि, प्राण (शरीरांतर्गत वायु) के रोधको प्राणायाम कहते हैं इसके रेचक, पूरक, कुंभक ३ भेद हैं भीतरसे वायु बाहर छोडना रेचक, बाहरसे वायु उदरमें पूर्ण करना पूरक और पूरितवायुको घटवत् धारण करना कुंभक कहाता है, कुंभककेभी केवल एवं सहित दो भेद हैं वे केवल योगियोंके संमत हैं और सहितभी दो प्रकारका है एक रेचकपूर्वक दूसरा कुंभकपूर्वक पहिला रेचकप्राणायाममें दूसरा पूरकप्राणायाममें भिन्न नहीं है इनके पूरे भेद प्राणायामप्रकरणसे जानने ॥ १ ॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ २ ॥

जबलों केवल कुंभककी सिद्धि हो तबलों सहितकुंभक सूर्यांग प्राणायामसे करके सुषुम्णाके भेदके पीछे उसके भीतर घंटकासा शब्द हो तब केवल कुंभक सिद्ध होता है तदनंतर १०।१० बढायके ९० पर्यंत करे सामर्थ्य हो तो अधिक करे रेचक तथा पूरकको भी छोडके वायुधारण करना उसे केवल कुंभक कहते हैं ॥ २ ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ३ ॥

प्राणायाम जो कहा शुद्ध तो केवल कुंभकही है, अन्य प्रकार नाडीशोधनार्थ हैं रेचकपूरकरहित केवल कुंभकके सिद्ध हो जानेमें ॥ ३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ४ ॥

योगीको तीनहूं लोकमें कुछभी दुर्लभ नहीं है जब केवल कुंभकके सामर्थ्य होनेसे यथेच्छ (असंख्य) वायु धारण करे ॥ ४ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ५ ॥

इस विधिसे निस्संदेह राजयोगपद प्राप्त होता है कुंभकके अभ्याससे आधारशक्ति (कुंडलिनी) बोध होता है इससे निद्रा आलस्यादि मिटते हैं ॥ ५ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगे राजयोगं विना हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ६ ॥

और सुषुम्णाके कफादि मल दूर होते हैं तब हठसिद्धि (मोक्ष) होता है हठयोग विना राजयोग सिद्धि राजयोग विना हठयोगसिद्धि नहीं होती इसलिये दोनहूंका अभ्यास करना ॥ ६ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७ ॥

कुंभकसे प्राण संरोधके अंत्यमें चित्तको आश्रयरहित कर इस प्रकारके अभ्यास योगकरके राजयोगपदको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
आरोग्यता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥८॥

हठ योगसिद्धि जब होती है तो देहमें कृशता, मुखमें प्रसन्नता, नादकी प्रगटता, नेत्रोंकी निर्मलता, नीरोगिता, धातुका जय, उदरमें जठराग्निकी वृद्धि, नाड़ियोंकी शुद्धि ये लक्षण होते हैं ॥ ८ ॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२ ॥

अब प्रत्याहार कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक्, कर्ण इन पांच ज्ञानेंद्रियोंके कर्म होते हैं अर्थात् उक्त ज्ञानेंद्रियोंके उक्त विषय क्रमसे हैं आसन, प्राणायाम, सिद्धि करके जिस इंद्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग करना अर्थात् इंद्रियसे उसके विषयका अनुभवकरके फेर इंद्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार कहाता है ॥ २२ ॥

यथा तृतियकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा॥२३॥

दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं ये तीन भागसे तीन काल होते हैं. जैसे (तीसरे) सायंकालमें सूर्य अपनी (प्रभा) कांतिको क्रमशः हरण करता है ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (आसन १ प्राणायाम २ प्रत्याहार ३) प्रत्याहारमें मानसविकार (विषय) में मनके अभिनिवेशको हरण करना अर्थात् विषयसंबंधसे चित्तको छुटाना ॥२३॥

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद् ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥ २४ ॥

जैसे कूर्म (कछुवा) अपने शिर पैर आदि अंगोंको संकोचन कर अपनेही भीतर छिपाय देता है, अंग तो उसीमें रहते हैं परंतु न हुए-के तुल्य हो जाते हैं ऐसेही योगीनेभी इंद्रियोंको विषयोंसे विमुख कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको थाम लेना अर्थात् इंद्रियोंको उनके विषयोंमें आसक्त न होने देना विषयोंसे तृप्त जैसा मानकर इंद्रियोंको अपने भीतर अंतरात्मामें आसक्त करना ॥ २४ ॥

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २५॥
अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २६ ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २७ ॥
अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२८॥
लावण्यमलावण्यं वा यं यं रसति जिह्वया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २९॥

कर्णसे मधुर वा कठोर जैसे शब्दोंको सुनता है ऐसे मनभी कर्ण-द्वारा शब्दमें आसक्त होता है योगिजन उक्त शब्दोंकाभी यहभी आत्माही है, समझ वह मनमें निश्चय कर मनको उक्त शब्द विषयसे प्रत्याहरण करे अर्थात् शब्दको विषय मानके जो मनमें ससंभ्रम शब्द सुननेका भ्रम होता है उस भ्रम मनको उसे मिथ्या (विनाशी) जानकर मनको उससे हटावे जैसे (रज्जु) रस्सीमें सर्पका एवं स्थाणु वृक्ष प्रस्तरादिकोंमें मनुष्य भूतादि भ्रांति होती है तैसेही अखंडानंदस्वरूप आत्मचैतन्यमें संसार यद्वा देह है कहकर बुद्धि भ्रांतिकरके कल्पना करती है वस्तुतः आत्मतत्त्वातिरिक्त कुछभी नहीं है

इस कारण सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है ऐसही शब्दादि उक्त वि-षयोंकोभी आत्माही है भावनापूर्वक निश्चय करके बाहर भीतर अद्वैतानंदस्वरूप आत्मासे अन्य कोई नहीं है सो धारणा स्थिर करके शब्दादि विषयोंको चलायमान हुएमेंभी उन्हें आत्मा माने विषय न माने नासिकासे सुगंध वा दुर्गंध जो सूंघता है उसे आत्माही है नि-श्चय करके नासिकाकी वृत्ति गंधद्वारा मनको लुभाय भ्रममें डालती है उसे हटावे नेत्रेंद्रियसे जो जो पवित्र वा अपवित्र पदार्थ देखता उन्हेंभी आत्माहीहै निश्चय कर रूपविषयसे मिथ्याभ्रम छोडके नेत्रें-द्रियवृत्तिको उक्त विषयसे हटावे त्वगिंद्रियमें मृदु वा कठोर तप्त वा शीत आदि जिस २ पदार्थको स्पर्श करता है उसभी आत्माही है भावना निश्चय कर त्वगिंद्रियप्रवृत्ति जो स्पर्शसुखमें मनको लुभाती है उसको हटावे जिह्वासे सलोना, अलोना, मिष्ट, कटुक आदि जिन २ रसोंको चखता है उन्हें आत्माही समझकर जिह्वाकी वृत्तिको हटावे इस प्रकार योगी प्रत्याहारके अभ्यास करके पंचेंद्रियवृत्तियोंको अपने २ विषयोंसे हटाय आत्मनखमें स्थिर करना जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तो योगी कानोंसे सुने मधुरशब्दके तुल्य मानता है कोईभी इसके चित्तको अपनी ओर नहीं ले जाय सकते. ऐसही नेत्रोंसे दे-खता वा पिशाच, मनुष्य, कुत्ता, ब्राह्मण वा चांडाल. गौ वा गदहा इत्यादि सभीको तुल्य देखता है. नासिकासे कस्तूरी आदि सुगंधी वा पुरीषादि दुर्गंधियोंसे तुल्य सुख मानता है त्वचासे अग्नि वा जल षोडशी स्त्री कुच वा कृपाण (आरे) की धारा आदिकोंके स्पर्शसे तुल्य सुख मानता है और जिह्वासे मीठा वा कडुवा, तप्त वा शीत तीक्ष्ण (मिर्च) वा दूध मिट्टी, रेत, गोबर वा हलुवा, पूडीआदि-कोंको तुल्य स्वादिष्ठ मानता है ॥२५॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥२९॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ३० ॥

प्रत्याहारकी विधि कहने उपरांत केवल हठयोगहीसेभी प्रत्याहारकी विधि कहते हैं कि षोडशदल कमलकर्णिकास्थित चंद्रबिंबसे जो अमृतधारा गिरती है उसे नाभिकमलस्थित सूर्य ग्रास कर लेता है तो उक्त धाराको विपरीतकरिणीमुद्रा करके सूर्यमे हटाय अपने मुखमें पावे, इसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ३० ॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः ॥ ३१ ॥

एक स्त्री पदसे कंठस्थानगत चंद्रमासे निकसी अमृतधाराका बोधन है (द्वाभ्यां) पदसे सूर्यचन्द्रमाका बोधहै तृतीयपदसे आप (योगी) है उक्त अमृतधारा कंठ एवं नाभिगत चंद्रसूर्यसे भोग करती है इसको तीसरा (आप) स्वयं विपरीतकरणीमुद्रा करके उक्त चंद्रसूर्यसे बचायकर भोग करे तो अजरामर होता है ॥ ३१ ॥

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मनः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ३२

अग्निमय एक सूर्य नाभिमें निवास करता है अमृतात्मक चंद्रमा विशुद्धचक्रमें रहता है ॥ ३२ ॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते ॥ ३३ ॥

विशुद्धचक्रमें रहकर अधोमुख चंद्रमा अमृतधारा वर्षाता है उस धाराको नाभिस्थित ऊर्ध्वमुख सूर्य पी लेता है योगीकरके उक्त सूर्यको वंचनकर उक्त अमृतधाराको अपने मुखमें प्राप्त किया जाता है उसे विपरीतकरणी मानना ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ३४ ॥

जो नाभिगत सूर्यको ऊपर (तालु) विशुद्धगत चंद्रमाको नीचे करे यह विपरीतकरणी गुरुमुखहीसे जानी जाती है ॥ ३४ ॥

लिखनेसे नहीं किंतु सुबोध योगियोंको इतना औरभी स्मरण कराते हैं कि यह मुद्रा प्राणायाम योग एवं खेचरीमुद्रा साधनके उपरांत इन्हींसे सुगम हो जाती है ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ३५ ॥

तीन फेरा रस्मियोंसे बँधा वृषभ जैसे पराधीन होकर शब्द करताहै ऐसेही अनाहतचक्रमें सत्व-रज-तमोगुणस्वरूप मायाविषे प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाविषें प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति मध्यमाके क्रमसे हृदयमध्यमें नादसहित होकर निरंतर शब्द करताहै अनाहतचक्रको हृदयमें योगिजन जानते हैं ॥३५॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वममृतायते ॥ ३६ ॥

खेचरी मुद्रा करके अमृतपानको सूचित करते हैं कि प्राणापानवायुको एकत्व कर मणिपूरक अनाहतचक्रको उल्लंघन करके महापद्म (ब्रह्मस्थान) को प्राप्त करके योगीका अमृतमय शरीर उक्तामृतपानमे हो जाता है ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्योरसनां निधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत्॥
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जिवति॥३७॥

उक्त प्रकारके ब्रह्मस्थानपर्यंत प्राणवायुको पूर्ण कर योगी शिरमें रहले सहस्रदलकमलसे विशुद्धचक्रमें गिरती वेला प्राणवायुको

ऊपर चढाय नासिका ऊर्ध्वविवरमें प्राप्त करे ऊर्ध्वविवरमें जिह्वा प्रवेश करना मुखभी ऊपरको करके सहस्रदलकमलमें प्राणवायुसहित प्राप्त हुई कुंडलिनीका ध्यान करता कुंडलिनीका सहस्रदलमें प्रवेश होतेही जो अमृताकार तरंग निकलता है उसका लेशभूत अतिनिर्मल जिह्वाके मथनसे निकले हुए अमृतको पान करे वह योगी अतिसुकुमार शरीर पायके समस्त रोगदुःखोंसे रहित होकर बहुत कालपर्यंत जीवित रहता है ॥ ३७ ॥

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः॥ ३८ ॥

अपानवायुको उठाय अपानवायुके साथ ऐक्य करनेवाले प्रकारसे काक (कौवे) कासा चोंच मुख कर शीतल सलिल (बाह्यवायु) को जो योगी पूरक (पूर्ण) करता है वह वृद्धावस्थासे रहित होता है अर्थात् सर्वदा युवाही रहता है ॥ ३८ ॥

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ॥ ३९ ॥

जिह्वाके सहायकरके तालुमूलसे जो विवर छिद्र है इस करके जो योगी प्राणवायुको पूर्ण (पूरित) करता है उसके छः महीनेके अभ्याससे समस्त रोगोंका नाश होता है ॥ ३९ ॥

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम् ।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ४० ॥

पांचवां विशुद्धचक्र (जो कंठमें रहता है) में चंद्रकलामृतका ध्यानकरके क्रमसे ऊपरको हरण करता हुआ सूर्यके मुखको वंचन कर योगीके मुखमें उक्त चंद्रकलामृत पडता है इस प्रकार जिह्वा द्वारा उदरमें प्राप्त होकर योगीके जरा रोगादियोंको हर लेता है ॥ ४० ॥

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ॥ ४१ ॥

'वि' शब्द हंसका और 'शुद्ध' शब्द निर्मलका बोधक है कण्ठमें अत्यंत निर्मल विशुद्धनामा चक्र है यह सर्वोत्कृष्ट है चक्रोंके तत्त्व जाननेवाले योगी जानते हैं ॥ ४१ ॥

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ॥ ४२ ॥

विशुद्धचक्रस्थ चंद्रकलामृतको अपनावायुसहित प्राणवायुको ऊपर चलायके लंबिका ऊर्ध्वविवरमें प्रवेश (पूर्ण) कर क्रमसे नासिकाके ऊपर विवरमें पहुँचानेसे नाभिसूर्यके मुख (जो अमृतको भस्म करता है) को वंचन (छलन) करके उक्तामृत उदरमें अन्नके समान पहुँचता है ॥ ४२ ॥

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यःकुरुतेजितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः ४३

कंठके ऊपर निर्मल चंद्रकलामृतको पूर्वोक्त विधिसे रोकके नासा ऊर्ध्वविवरमें पूरित करे तब सर्वद्वारोंको रोकके (गगन) आज्ञाचक्रमें प्राणापानवायुसहित पूरण करके ऊर्ध्वमुख होकर भूमिमें उत्तान लेटकर पैरोंकोभी उत्तान करके जितेंद्रिय होकर उक्तामृतपान करना जो योगी निरंतर इस विधिको करता है उसका क्षय (मृत्यु) नहीं होता ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

जिह्वाको ऊपर लंबी करके ऊपर स्थिर करके जो योगी अमृतपान करता है उस अभ्यासीको एकही पक्ष (१५ दिन) में मृत्यु जीतनेका सामर्थ्य होता है इसमें संदेह नहीं ॥ ४४ ॥

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ४५ ॥

जिस योगीने (मूलबंध मूलद्वार रोका उसने जरामरणादि विघ्नका नाश करलिया, इस हेतु जरामरणयुक्त देहमें आत्मभावको छोडकर जरामरणरहित शुद्ध आत्मभावको प्राप्त होता है जैसे पंचवक्र सदाशिव देहाहंकार जरामरणादिरहित विराजमान है ऐसेही उक्त अभ्यासीभी होता है ॥ ४५॥

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ४६ ॥

जो जिह्वाग्रसे राजदंतके बिल (रंध्र) को अचेतन (पीडन) कर अमृतमयी वागीश्वरी देवीके ध्यानका अभ्यास करता है तो अभ्यास सिद्ध होनेपर छः महीनेमें विचित्र कवितासामर्थ्य कवि हो जाता है ॥ ४६ ॥

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं चारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोऽपि स पन्थाः पञ्च धारणाः॥४७॥

जिह्वाग्रसे पीडन कर राजदंतके छिद्रको रोकनेसे समस्त नाडियोंके मुख रुक जाते हैं. ऊपरके रुकनेसे अमृतधारा गिरके अन्यत्र नहीं गिर सकती पंचधारणाके अभ्यासी योगीकोभी जैसी इसीमें चंद्रमासे निस्सरित अमृतका हरण प्रत्याहार कहा है तैसेही अमृतको लंबिकाके ऊर्ध्वविवरमें धारणा करना यह धारणा होती है ॥ ४७ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ४८

जिह्वाको लंबिकाके निरंतर चुंबनाभ्यास करनेवाले योगीको कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूधसा, कभी सहतकासा, कभी घीकासा स्वाद जिह्वामें अनुभव होते हैं ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध हुएमें होने लगते हैं तब योगीके व्याधि (रोग) नाश होते हैं, वृद्धावस्थाका निवारण होता है, शास्त्रके व्याख्यान करनेका सामर्थ्य बिना पढेभी होता है, अमृतमय शरीर होकर अष्ट सिद्धि मिलती हैं स्मरणमात्रसे सिद्ध, गंधर्व, नागादिकन्याओंके आकर्षण करनेका सामर्थ्य होता है ॥ ४८ ॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ४९ ॥

उक्त प्रत्याहारका फल कहते हैं कि उक्त प्रकारसे अमृतसे परिपूर्ण जब देह योगीका हो जाता है तो २।३ वर्ष अभ्याससे वीर्य (रेत) ऊपरको चढ जाता है ऊर्ध्वरेता होकर कदाचित्भी वीर्य स्खलित नहीं होता एवं अणिमादि सिद्धि उदय होती हैं ॥ ४९ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णदेहं देही न मुञ्चति ॥ ५० ॥

जैसे अग्नि शुष्ककाष्ठ एवं दीपक तैलवर्तिको समग्र भस्म किये बिना नहीं छोडता तैसेही जीवात्माभी चंद्रकलामृतसे पूर्ण हुए योगीके शरीरको कदापि नहीं छोडता ॥ ५० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ५१ ॥

जिस योगीका शरीर नित्य सोमकलामृतसे पूर्ण रहता है उसे तक्षकनागभी डसे (काटे) तोभी शरीरमें विष नहीं फैलता ॥५१॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम् ।